पारिभाषिक:
उणादिकोश:
निघण्टु:

भूमिका

संज्ञापरिभाषाविधिनिषेधनियमातिदेशाधिकाराख्यानि सप्तविधानि सूत्राणि भवन्ति । सम्यग् जानीयुर्यया सा संज्ञा, यथा 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि । परितः सर्वतो भाष्यन्ते नियमा याभिस्ताः परिभाषाः, यथा 'इको गुणवृद्धी' इत्यादि । यो विधीयते स विधिर्विधानं वा, यथा 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यादि । निषिध्यन्ते निवार्यन्ते कार्याणि यैस्ते निषेधाः, यथा 'न धातुलोप आर्द्धधातुके' इत्यादि । नियम्यन्ते निश्चीयन्ते प्रयोगा यैस्ते नियमाः, यथा 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि । अतिदिश्यन्ते तुल्यतया विधीयन्ते कार्याणि यैस्तेऽतिदेशाः, यथा 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इत्यादि । अधिक्रियन्ते पदार्था यैस्तेऽधिकाराः, यथा 'कारके' इत्यादि ।

एषां सप्तविधानां सूत्राणां मध्याद्यतोऽयं परिभाषाणां व्याख्यानो ग्रन्थोऽस्ति, तस्मात्पारिभाषिको वेदितव्यः ।

भाषार्थः—सूत्र सात प्रकार के होते हैं—संज्ञा, परिभाषा, विधि, निषेध, नियम, अतिदेश, अधिकार । अच्छे प्रकार जिससे जानें वह संज्ञा कहाती है; जैसे 'वृद्धिरादैच्' इत्यादि । जिन से सब प्रकार नियमों की स्थिरता की जाय वे परिभाषा सूत्र कहाते हैं; जैसे 'इको गुणवृद्धी' इत्यादि । जो विधान किया जाय वा जो विधान है, वह विधि कहाता है; जैसे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यादि । निषेध उस को कहते हैं कि जिस से कार्यों का निवारण किया जाय; जैसे 'न धातुलोप आर्द्धधातुके' इत्यादि । नियम उनको कहते हैं कि जिनसे प्रयोगों का निश्चय किया जाय; जैसे 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' इत्यादि । जिससे किसी की तुल्यता लेकर कार्य कहें वह अतिदेश कहाता है; जैसे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इत्यादि । और जिनसे पदार्थों की विशेष अनुवृत्ति हो उन को अधिकार कहते हैं; जैसे 'कारके' इत्यादि ।

इन सात प्रकार के सूत्रों में से जिसलिये यह परिभाषाओं का व्याख्यानरूप ग्रन्थ है, इसलिये इस का नाम पारिभाषिक रक्खा है। इन परिभाषाओं में से जो अष्टाऽध्यायीस्थ परिभाषासूत्र हैं, वे सन्धिविषय में व्याख्यापूर्वक लिख दिये हैं, यहां केवल महाभाष्यस्थ परिभाषासूत्रों का व्याख्यान है।

परिभाषाओं का मुख्य तात्पर्य यही है कि दोषों का निवारण करके व्यवस्था कर देना। इसीलिये इस ग्रन्थ को बनाया है कि व्याकरण के सन्धि आदि प्रकरणों में जो २ सन्देह पड़ते हैं, वे इन परिभाषाओं के पठन-पाठन से अवश्य निवृत्त हुआ करेंगे, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

और इस में मूल परिभाषा के आगे जो संख्या पड़ी है, वह अष्टाऽध्यायी के सूत्र की है। उस सूत्र की व्याख्या में महाभाष्य में वह परिभाषा लिखी है। और परिभाषा के पहिले जो संख्या है, वह इस ग्रन्थ की है।

इति भूमिका ॥

स्थान—
महाराणाजीका उदयपुर
आश्विन शुक्ल
संवत् १९३९

दयानन्द सरस्वती.

* ओ३म् *

अथ पारिभाषिकः
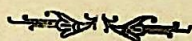
"परितो व्यापृतां भाषां परिभाषां प्रचक्षते"। सब ओर से वैदिक, लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार के साथ जिसका सम्बन्ध रहे, अर्थात् उक्त तीनों प्रकार का व्यवहार जिस से सिद्ध हो, उस को 'परिभाषा' कहते हैं।

इस पारिभाषिक ग्रन्थ में प्रथम परिभाषा की भूमिका लिख कर, आगे लक्ष्य अर्थात् उदाहरण लिख के, पुनः मूल परिभाषा लिखेंगे, और उस के आगे उस का स्पष्ट व्याख्यान करेंगे।

अब प्रथम पाणिनीय व्याकरण अष्टाऽध्यायी के प्रत्याहार सूत्रों में (अइउण्; लण्) इन दो सूत्रों में लोप होने वाला हल् णकार पढ़ा है। इस णकार से 'अण्' और 'इण्' दो प्रत्याहार बनते हैं। सो जिन सूत्रों में 'अण्' 'इण्' प्रत्याहारों से काम लिया जाता है, वहां सन्देह पड़ता है कि किन २ सूत्रों में पूर्व और किन २ में पर णकार से 'अण्' तथा 'इण्' प्रत्याहार जानें। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

१—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् ॥

'लण्' सूत्र पर॥

जिस सूत्र वा वार्त्तिक आदि में सन्देह हो, वहां व्याख्यान से विशेष बात का निश्चय कर लेना चाहिये, किन्तु सन्देहमात्र के होने से सूत्र आदि ही को अन्यथा न जान लेवें।

जहां पृथक् २ देखे हुए दो पदार्थों के समान अनेक विरुद्ध धर्म एक में दीख पड़ें, और उपलब्धि अनुपलब्धि की अव्यवस्था हो, अर्थात् जो पदार्थ है और जो नहीं है दोनों की उपलब्धि और दोनों की अनुपलब्धि होती है, क्योंकि पदार्थों के साधारण धर्म को लेकर सन्देह होता है। उन में से जब विशेष अर्थात् किसी एक का निश्चय होजाता है, तब सन्देह नहीं रहता।

जिन सूत्र आदि में सन्देह पड़ता है, वहां उनमें छः प्रकार का व्याख्यान करना चाहिये—पदच्छेद, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ, पूर्वपक्ष—शङ्का, उत्तरपक्ष—समाधान। इन छः प्रकार के व्याख्यानों से संदेहों की निवृत्ति कर लेनी चाहिये।

प्रश्न—जैसे प्रथम (ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः) इस० सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार से लेना वा पर से, यह संदेह है ?

उत्तर—इसमें निस्संदेह पूर्व णकार से लेना चाहिये। क्योंकि जो पर णकार से लिया जावे, तो इस सूत्र में 'अण्' का ग्रहण करना व्यर्थ है, क्योंकि (अचश्च) इस सूत्र से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत अच् ही के स्थान में होते हैं। इस से 'अच्' की उपस्थिति होही जाती। फिर 'अण्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि इत्यादि सूत्रों में पूर्व णकार ही से लिया जावे।

प्रश्न—और (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) इस सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पूर्व णकार से वा पर णकार से लेना चाहिये ?

उत्तर—निस्संदेह पर णकार से 'अण्' प्रत्याहार का ग्रहण है। क्योंकि (ऊॠत्) इस सूत्र में ॠकार तपर इसीलिये पढ़ा है कि 'अचीकृतत्' इत्यादि प्रयोगों में ॠकार को ह्रस्व ॠकार ही आदेश हो। अर्थात् सवर्णग्रहण (अणुदित्०) परिभाषा सूत्र से ह्रस्व का सवर्णी दीर्घ न हो जावे। जो पूर्व णकार से 'अण्' ग्रहण होता, तो पूर्व अण् में ॠकार के होने से ॠकार को सवर्ण ग्रहण प्राप्त ही नहीं, फिर तपर क्यों पढ़ते ? इस से स्पष्ट हुआ कि (अणुदित्०) इस सूत्र में पर णकार से, और इसी एक सूत्र को छोड़ के अन्यत्र सब सूत्रों में पूर्व णकार से 'अण्' ग्रहण है।

प्रश्न—और (इण्कोः) इत्यादि जिन २ सूत्रों में 'इण्' प्रत्याहार पढ़ा है, वहां २ पूर्व वा पर णकार से ग्रहण करना चाहिये ?

उत्तर—यहां सर्वत्र निस्संदेह पर णकार से 'इण्' समझना चाहिये। क्योंकि पूर्व से 'इण्' प्रत्याहार में 'इ, उ' दो ही वर्ण आते हैं। सो जहां इन दो वर्णों से कार्य लिया है, वहां 'य्वोः' ऐसा इ उ को विभक्ति के साथ सन्धि करके पढ़ा है। यहां 'इण्' पढ़ते तो कुछ गौरव नहीं था, किन्तु आधी मात्रा का लाघव ही था। फिर 'इण्' प्रत्याहार के न पढ़ने से निश्चय हुआ कि सर्वत्र पर णकार से 'इण्' प्रत्याहार लिया जाता है।

अन्यत्र भी जहां कहीं शिष्ट वचन में सन्देह पड़े, वहां व्याख्यान से विशेष करके सत्य विषय का निश्चय कर लेना चाहिये, किन्तु उस वचन को व्यर्थ जान के नहीं छोड़ देना चाहिये। और सन्दिग्ध लौकिक व्यवहारों का भी विशेष व्याख्यान से निर्णय किया जाता है ॥ १ ॥

(सार्वधातुकार्द्धधातुकयोः) यह गुणकार्य होने का काल है। यहां (अलोन्त्यस्य; इको गुणवृद्धी) इन दो परिभाषाओं की विधिसूत्र के साथ परिभाषाबुद्धि से एकवाक्यता हो, इसीलिये कार्यकाल परिभाषापक्ष, और जब (हयवरट्; हल्) यहां दो हकारों का उपदेश इत्यादि विषयों में सन्देह पड़े, तब उस विषय के साथ सामान्यविषयक बुद्धि से परिभाषारूप व्याख्या की एकवाक्यता होवे। इसलिये यथोद्देश पक्ष है। इससे ये दोनों परिभाषा की गई हैं—

२—कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥
३—यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् ॥ अ० १ । १ । ११ ॥

'कार्यस्य कालः कार्यकालः, कार्यकालः कालोऽस्य तत् कार्यकालम्; संज्ञा च परिभाषा च तत्संज्ञापरिभाषम्; उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् ।' संज्ञा और परिभाषा का समय वही है, जो कार्य करने का काल होता है। उसी समय उनकी उपस्थिति होती है।

जैसे दीपक एक स्थान पर रक्खा हुआ, सब घर को प्रकाशित करता है, वैसे परिभाषा भी एकदेश में स्थित होकर सब शास्त्र के विषयों को प्रकाशित करती है। इस में प्रमाण—"परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत्, यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयति ॥ महाभाष्य० २ । १ । १ ॥"

और यथोद्देश पक्ष से प्रयोजन यह है कि जिस विषय पर जिस परिभाषा का उच्चारण किया हो, वह उस का उल्लंघन न करे। अर्थात् उस विषय के अनुकूल उस की प्रवृत्ति होवे। इन दोनों पक्षों में भेद यह है कि कालपक्ष की परिभाषा किसी की दृष्टि में असिद्ध नहीं मानी जाती। और यथोद्देशपक्ष की परिभाषा असिद्ध प्रकरण में नहीं लगती ॥ २—३ ॥

(दाधाघ्वदाप्) इस सूत्र में 'अदाप्' कहने से 'दाप् लवने' धातु का निषेध हो सकता है, फिर 'दैप् शोधने' धातु की घुसंज्ञा हो जावे, तो 'अवदातं मुखम्' यहां अनिष्ट 'दत्' आदेश प्राप्त है। इसीलिये 'दैप्' धातु की घुसंज्ञा इष्ट नहीं है। इत्यादि प्रयोजनों के लिये यह परिभाषा की गई है—

४—अनेकान्ता अनुबन्धाः ॥ अ० १ । १ । २० ॥

प्, ञ्, ङ्, क् इत्यादि अनुबन्ध जिन धातु आदि के साथ युक्त होते हैं, उन के एकान्त अर्थात् अवयव नहीं, किन्तु वे अनुबन्ध उन धातु आदि से पृथक् हैं।

इस से यह सिद्ध हुआ कि 'दैप्' धातु को एजन्त मानकर आकारादेश किये पीछे 'दाप्' मानकर इसी घुसंज्ञा का निषेध होता है। इसी से 'अवदातं मुखम्' यहां दोष नहीं आता ॥ ४ ॥

अब (अनेकाल्शित्सर्वस्य) इस सूत्र से 'अनेकाल्' और 'शित्' आदेश संपूर्ण के स्थान में होते हैं। (इदम् इश्; अष्टाभ्य औश्) यहाँ 'इश्' और 'औश्' भी शकार के सहित अनेकाल हैं। फिर अनुबन्धों * के एकान्तपक्ष में शित् ग्रहण ज्ञापक है। इस से यह परिभाषा निकाली—

* अनुबन्धों में एकान्त और अनेकान्त दोनों पक्ष माने जाते हैं। सो अनेकान्तपक्ष में परिभाषा का प्रयोजन दिखा दिया। और एकान्तपक्ष इसलिये मानते हैं कि अनेकान्तपक्ष में 'क्' जिस

५—नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम् ॥ अ० १ । १ । ५५ ॥

अनुबन्ध के सहित जो अनेकाल् हो, उसको अनेकाल् नहीं मानना, किन्तु जो अनुबन्धरहित अनेकाल् हो, वही अनेकाल् कहाता है।

इस से यह आया कि 'इश्' आदि आदेश 'शित्' होने से अनेकाल् नहीं होते। तो 'शित्' आदेश सार्थक होकर स्वार्थ में इस परिभाषा का चरितार्थ होगया।

और अन्यत्र फल यह है कि जो 'अर्वन्' शब्द को (अर्वणस्त्रसावनञः) इस सूत्र से 'तृ' आदेश कहा है, उस को ऋकार अनुबन्ध के सहित अनेकाल् मान लें तो सर्वादेश अनिष्ट प्राप्त हो, अन्त्य को इष्ट है। अनुबन्ध कृत अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ५ ॥

अब इस पांचवीं परिभाषा के एकान्तपक्ष में होने से 'दैप्' धातु के पकार का लोप प्रथम होगया, क्योंकि लोपविधि सब से बलवान् है। लोप किये पीछे आकारादेश करने से 'अदाप्' इस से घुसंज्ञा का निषेध नहीं हो सकता। और किसी प्रकार पकार का लोप प्रथम न करें तो अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में 'दैप्' धातु एजन्त नहीं। पुनः आकारादेश नहीं प्राप्त है, तो 'अवदातं मुखम्' यहां घुसंज्ञा होनी चाहिये। इसलिये ज्ञापकसिद्ध यह परिभाषा है—

६—नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥ अ० ३ । ४ । १६ ॥

अनुबन्ध के होने से एजन्तपन की हानि नहीं होती।

(उदीचां माङो०) इस सूत्र में 'मेङ्' धातु का 'माङ्' निर्देश नहीं करते तो व्यतिहार-ग्रहण भी नहीं करना पड़ता, क्योंकि 'मेङ्' धातु का व्यतिहार अर्थ ही है। फिर (उदीचां मेङः) इतने छोटे सूत्र से सब काम निकल जाता, तो बड़ा सूत्र करने से यह आया कि अनुबन्ध के बने रहते ही आकारादेश हो जाता है, कि जैसे 'मेङ्' का 'माङ्' बन गया, अर्थात् अनुबन्ध के होने से भी एजन्तत्व की हानि नहीं होती। जैसे कि 'मेङ्' में 'ङ्' अनुबन्ध के बने रहते ही पच्निमित्त आकारादेश होगया। इससे यह परिभाषा स्वार्थ में चरितार्थ हुई। और अन्यत्र फल यह है कि 'दैप्' धातु को भी अनुबन्ध के वर्त्तमान समय ही में एजन्त मानकर आकारादेश होजाता है। फिर 'अदाप्' निषेध के प्रवृत्त होने से घुसंज्ञा का प्रतिषेध होकर 'अवदातं मुखम्' प्रयोग सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

का इत् गया हो वह 'कित्' नहीं हो सकता, क्योंकि कित् शब्द में बहुव्रीहि समास से अन्य पदार्थ प्रत्यय के साथ ककार अनुबन्ध का मुख्य सम्बन्ध नहीं घटता। और एकान्तपक्ष में घट जाता है। और अनेकान्तपक्ष में शकार अनुबन्ध से 'शित्' अनेकाल् नहीं हो सकता, फिर एकान्तपक्ष के लिये ही अगली ५, ६, ७ तीनों परिभाषा हैं ॥

अब अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में यह भी दोष आता है कि 'अण्' और 'क' प्रत्यय में 'ण्, क्' अनुबन्धों के लगे होने से भिन्नरूप वाले समझे जावें। फिर सरूप प्रत्यय नित्य बाधक होते हैं। अर्थात् अपवाद विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती, यह बात नहीं बनेगी। इस से 'गोदः; कम्बलदः' यहाँ 'अण्' का अपवाद 'क' प्रत्यय हो जाता है। इस अपवाद के विषय में उत्सर्ग 'अण्' भी होना चाहिये। इसलिये ज्ञापकसिद्ध यह परिभाषा है—

७–नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ॥ अ० ३ । १ । १३९ ॥

जिन में अनुबन्धमात्र का भेद हो, वे भिन्नरूपवाले असरूप नहीं कहाते।

(ददातिदधात्योर्विभाषा) इस सूत्र में 'विभाषा' ग्रहण इसलिये है कि 'श' प्रत्यय के पक्ष में आकारान्त से विहित उत्सर्गरूप 'ण' प्रत्यय भी होजावे। और 'अण्; क' प्रत्यय के समान 'ण; श' प्रत्यय भी अनुबन्ध से असरूप और अनुबन्ध रहित सरूप ही हैं। फिर असरूप प्रत्ययों में तो (वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्) इस परिभाषा सूत्र से उत्सर्गापवाद विकल्प होही जाता। फिर विभाषाग्रहण व्यर्थ होकर यह जनाता है—अनुबन्धमात्र भेद के होने से असारूप्य नहीं होता। अर्थात् 'ण'; 'श' प्रत्यय असरूप नहीं हैं कि जो (वाऽसरूप०) परिभाषा से विभाषा होजावे। इस से 'विभाषा' ग्रहण स्वार्थ में चरितार्थ, और अन्यत्र फल यह है कि इसीसे 'गोदः'; 'कम्बलदः' यहां 'क' अपवाद के विषय में 'अण्' उत्सर्ग भी नहीं होता॥ ७॥

अब संज्ञा दो प्रकार की होती है—एक तो जो वाच्यवाचक संकेत से किन्हीं विशेष प्रयोजनों के लिये किसी का कुछ नाम रख लेना, उस को कृत्रिमसंज्ञा कहते हैं। और जो प्रकृति प्रत्यय के योग से यौगिक अर्थ होता है, उस को अकृत्रिमसंज्ञा कहते हैं। सो लौकिक व्यवहारों में तो यही रीति है कि जहां कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं का सम्भव हो, वहां कृत्रिम संज्ञा ली जावे, अकृत्रिम नहीं। 'यथा केनचिदुक्तं गोपालकमानयेति' जैसे किसी ने कहा कि गोपालक को ले आ। एक तो यहां गोपालक किसी निज मनुष्य का नाम है, और दूसरा जो कोई गौओं का पालन करे, उसको गोपालक कहते हैं। तो यह अर्थ किसी निज के साथ नहीं है। फिर इस कृत्रिमसंज्ञा वाले निज गोपालक का ही ग्रहण होता है।

ऐसे अब व्याकरण में जहां कृत्रिम अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं का सम्भव है, जैसे धातु, प्रातिपदिक, बहुव्रीहि, तत्पुरुष, वृद्धि, गुण, सवर्ण, सम्प्रसारण, नदी इत्यादि शब्दों में कृत्रिम संज्ञा का ग्रहण हो वा अकृत्रिम का? इसलिये यह परिभाषा है—

८–कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्ययः॥ अ० १।१।२३॥

जहां कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों संज्ञाओं में कार्य होना सम्भव हो, वहां कृत्रिम संज्ञा में कार्य होना निश्चित रहे, अकृत्रिम में नहीं।

इस से व्याकरण में भी धातु आदि कृत्रिम संज्ञाओं से कार्य लेने चाहियें, सुवर्ण आदि धातुसंज्ञक से नहीं ॥ ८ ॥

अब इस कृत्रिम परिभाषा के होने से दोष आते हैं कि जहां कृत्रिमसंज्ञा के लेने से कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, जैसे (कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे) इस सूत्र में जो कृत्रिम कर्मसंज्ञा का ग्रहण होवे तो 'देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति' यहां कर्त्ता को ईप्सिततम धान्य कर्म के होने से आत्मनेपद होना चाहिये, वह यहां इष्ट नहीं है। इसलिये यह परिभाषा है—

९—उभयगतिरिह भवति ॥ अ० १ । १ । २३ ॥

इस व्याकरण शास्त्र में दोनों प्रकार का बोध होता है, अर्थात् कहीं कृत्रिम और कहीं अकृत्रिम का भी ग्रहण होता है।

जैसे—(कर्मणि द्वितीया) यहां कृत्रिम कर्मसंज्ञा और (कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे) 'कृषीवला व्यतिलुनते' यहां अकृत्रिम क्रियारूप कर्म का ग्रहण है। इसलिये 'देवदत्तस्य धान्यं व्यतिलुनन्ति' यहां अकृत्रिम कर्म के होने से आत्मनेपद नहीं होता।

तथा (कर्तृकरणयोस्तृतीया) 'देवदत्तेन ग्रामो गम्यते; रथेन गच्छति' यहां कृत्रिम करणसंज्ञा, और (शब्दवैरकलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे) 'शब्दं करोति शब्दायते' यहां अकृत्रिम करणसंज्ञा लीजाती है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ९ ॥

'अध्येता; शयिता' इत्यादि प्रयोगों में 'इङ्' और 'शीङ्' धातु को गुणनिषेध होना चाहिये। क्योंकि अनुबन्धों के एकान्तपक्ष में दोनों धातु 'ङित्' हैं। और अनेकान्तपक्ष में अनुबन्ध पृथक् भी हैं, इस में गुणनिषेध कार्य और इगन्त कार्यी है—

१०—कार्यमनुभवन् हि कार्यी निमित्तत्वेन नाश्रीयते ॥

कार्य करते हुए कार्यी का निमित्तपन से आश्रय नहीं किया जाता है। अर्थात् जिसके आश्रय से कार्य होता हो, वही उसका निमित्त कार्यी नहीं होता है।

जैसे—गुणनिषेध का निमित्त 'ङित्' इगन्त नहीं कि जो वह 'ङित्' इगन्त गुणनिषेध का निमित्त इगन्त कार्यी होता तो अवश्य गुण का निषेध हो जाता। (स्थण्डिलाच्छयितरि०) इस सूत्र में 'शीङ्' धातु को गुणपठनज्ञापक से यह परिभाषा निकली है। तथा सन्नन्त यङन्त को कहा द्वित्व 'ऊर्णु' धातु के नुभाग को होजाता है। क्यों कि 'सन्' का निमित्त ऊर्णु धातु है—ऊर्णुनविषति; ऊर्णुनुविषति इत्यादि ॥ १० ॥

'प्रणिदापयति; प्रणिधापयति' इत्यादि प्रयोगों में 'दा; धा' रूप को कही हुई घुसंज्ञा पुगन्त 'दाप्; धाप्' को न प्राप्त होने से घुसंज्ञक धातुओं के परे 'प्र' उपसर्ग से उत्तर 'नि' के नकार को णत्व न होना चाहिए, इसलिये यह परिभाषा की गई है—

११—अर्थवत आगमस्तद्गुणीभूतोऽर्थवद्ग्रहणेन गृह्यते* ॥

अ० १ । १ । २० ॥

जो अर्थवान् प्रकृति आदि को टित् कित् और मित् आगम होते हैं, वे उन्हीं प्रकृति आदि के स्वरूपभूत होने से उन्हीं के ग्रहण से ग्रह्य किये जाते हैं । अर्थात् वे पुक् आदि आगम प्रकृति आदि से पृथक् स्वतन्त्र नहीं समझे जाते।

इस से 'प्रखिदापयति' आदि में पुगन्त की भी घुसंज्ञा के होजाने से 'णत्व' आदि कार्य होजाते हैं ।

तथा 'सर्वेषाम्' इत्यादि प्रयोगों में भी 'सुडादि' आगमों के तद्गुणीभूत होने से 'साम्' को झलादि सुप् मानकर एकारादेश हो ही जाता है । इसी प्रकार लोक में भी किसी प्राणी का कोई अङ्ग अधिक होजावे, तो वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है ॥११॥

अब (पादः पत्) इस सूत्र से जो 'पाद' शब्द को 'पत्' आदेश कहा है, यहां तदन्तविधि परिभाषा के आश्रय से 'द्विपात्; त्रिपात्' शब्दों को भी भसंज्ञा में 'पत्' आदेश होता है । उस 'पत्' आदेश के अनेकाल् होने से 'द्विपात्;त्रिपात्' संपूर्ण के स्थान में प्राप्त है । सो जो संपूर्ण के स्थान में होवे तो 'द्विपदः पश्य; त्रिपदः पश्य' इत्यादि प्रयोग न बन सकें । इसलिये यह परिभाषा कही है—

१२—निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति ॥ अ० ६ । ४ । १३० ॥

षष्ठी विभक्ति से दिखाये हुए स्थानी के स्थान में प्राप्त जो प्रथमानिर्दिष्ट आदेश, वह निर्दिश्यमान, अर्थात् सूत्रकार वा वार्त्तिककार ने जितने स्थानी का निर्देश किया हो, उसी के स्थान में हो । अर्थात् तदन्तविधि से जो पूर्वपद वा अन्य उसके सदृश कोई आजावे, तो उस सब के स्थान में न हो ।

इस से 'द्विपात्' शब्द में पादमात्र को 'पत्' आदेश हो जाता है, 'द्वि; त्रि' आदि बच जाते हैं । इसी से 'द्विपदः पश्य' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं ॥ १२ ॥

अब 'चेता; स्तोता' इन प्रयोगों में (स्थानेऽन्तरतमः) इस सूत्र से प्रमाणकृत आन्तर्य मानें, तो ह्रस्व इकार उकार के स्थान में अकार गुण प्राप्त है । इससे अभीष्ट प्रयोगों की सिद्धि नहीं होती । इसलिये यह परिभाषा की है—

---

* जो नागेश और भट्टोजिदीक्षित आदि नवीन लोग इस परिभाषा को (यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते) इस प्रकार की लिखते मानते और व्याख्यान भी करते हैं, सो यह पा० महाभाष्य से विरुद्ध है । महाभाष्य में यह परिभाषा ऐसी कहीं नहीं लिखी । इसलिये इन लोगों का प्रमाद है॥

२

१३–यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयः ॥ अ० १ । १ । ५० ॥

जहां अनेक प्रकार का, अर्थात् स्थानकृत, अर्थकृत, गुणकृत और प्रमाणकृत, यह चार प्रकार का आन्तर्य प्राप्त हो, वहां जो स्थान से आन्तर्य है, वही बलवान् होता है।

इससे प्रमाणकृत आन्तर्य्य के हट जाने से स्थानकृत आन्तर्य्य के आश्रय से एकार ओकार गुण होकर 'चेता; स्तोता' प्रयोग बन जाते हैं।

स्थानकृत आदि के विशेष उदाहरण सन्धिविषय में लिख चुके हैं ॥ १३ ॥

(संख्याया अतिशदन्तायाः कन्) यहां 'ति' और 'शत्' जिस के अन्त में हों, उस से 'कन्' प्रत्यय का निषेध किया है। सो 'कतिभिः क्रीतम्=कतिकम्' यहां भी त्यन्त से निषेध होना चाहिये, और कन् प्रत्यय तो इष्ट ही है। इसलिये यह परिभाषा है—

१४–अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥ अ० ५ । १ । २२ ॥

अर्थवान् के ग्रहण होने में अनर्थक शब्दों का ग्रहण नहीं होता।

इससे अर्थवान् 'ति' शब्द के ग्रहण में निरर्थक डतिप्रत्ययान्त के 'ति' का ग्रहण नहीं होता। इस से 'कतिकम्' यहां कन् का निषेध नहीं हुआ।

इसी प्रकार प्र शब्द से ऊढ के परे वृद्धि कही है, सो 'प्र+ऊढवान्=प्रोढवान्' यहां 'ऊढ' शब्द निरर्थक है। इसलिये वृद्धि नहीं होती। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १४ ॥

अब अर्थवद्ग्रहण परिभाषा के होने से भी 'अमहान् महान् संपन्नो=महद्भूतश्चन्द्रमाः' इस प्रयोग में 'महत्' शब्द को आकारादेश होना चाहिये। और आत्व के होने से अनिष्टसिद्धि प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

१५–गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः ॥ अ० ६ । ३ । ४६ ॥

जो गुणों से प्राप्त होवे वह 'गौण', और जो गुणी से प्राप्त होवे वह 'मुख्य' कहाता है। उस गौण से प्राप्त और मुख्य दोनों में एककाल में एककार्य प्राप्त हो, तो मुख्य में कार्य होवे, और गौण में नहीं।

इससे 'महद्भूतश्चन्द्रमाः' यहां आकारादेश नहीं होता। क्योंकि यहां 'महत्' शब्द अभूततद्भाव अर्थ में मुख्य और चन्द्रमा के साथ समानाधिकरण में गौण विशेषण है।

इसी प्रकार 'अगौः गौः संपद्यत=गोभवत्' यहां च्विप्रत्ययान्त 'गो' शब्द निपातसंज्ञक है, परन्तु मुख्य ओकारान्त निपात नहीं। इसलिये (ओत्) सूत्र से प्रगृह्यसंज्ञा नहीं होती। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ १५ ॥

अर्थवान् के ग्रहण में अनर्थक का ग्रहण नहीं होता, यह कह चुके हैं। सो 'राज्ञा' यहां राजन् शब्द में 'कनिन्' प्रत्यय का 'अन्' अर्थवान् है, इसलिये अन्नन्त के अकार का लोप होना ठीक है। और 'साम्ना' यहां सामन् शब्द में 'मनिन्' प्रत्यय का 'मन्' अर्थवान् और अन् अनर्थक है। इस समाधान के लिये यह परिभाषा है—

१६—अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

अन्, इन्, अस्, मन् ये जिन सूत्रों में ग्रहण हैं, वहां अर्थवान् और अनर्थक दोनों से तदन्तविधि होता है।

अन्—में तो अर्थवान् और अनर्थक दोनों के उदाहरण दे दिये। इन्—'दण्डी' यहां इनि प्रत्यय के अर्थवान् इन्नन्त को दीर्घ; और 'वाग्मी' यहां अर्थवान् 'असुन्' प्रत्यय के 'अस्' को दीर्घ; और 'पीतवाः' यहां पीत पूर्वक 'वस्' धातु से क्विप् हुआ है, सो वस् में अनर्थक 'अस्' को दीर्घ होता है। मन्—'सुष्ठु शर्म्म यस्याः सा सुशर्म्मा' यहां तो अर्थवान् मन्नन्त से ङीप् का निषेध है, और 'सुप्रथिमा' यहां 'इमनिच्' प्रत्यय का 'इमन्' अर्थवान् और मन् भाग निरर्थक को भी ङीप का निषेध होता ही है ॥ १६ ॥

और आगे एक परिभाषा लिखेंगे कि समीपस्थ का विधान वा निषेध होता है। इस में यह दोष आता है कि जैसे (लिङ्सिचावात्मनेपदेषु) इस सूत्र की अनुवृत्ति (उश्च) इस में आती है। सो जो समीपस्थ के विधि निषेध का नियम है, तो आत्मनेपद की अनुवृत्ति आनी चाहिये, क्योंकि आत्मनेपद की अपेक्षा में 'लिङ्; सिच्' दूर हैं, और 'लिङ्; सिच्' की अनुवृत्ति के विना कार्यसिद्धि नहीं हो सकती। इसलिये यह वक्ष्यमाण परिभाषा है—

१७—एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥

जो एक सूत्र में निर्देश किये पद हैं, उन की अन्य सूत्रों में एक साथ प्रवृत्ति और एक साथ निवृत्ति हो जाती है।

इस से (उश्च) सूत्र में 'लिङ्; सिच्' की भी अनुवृत्ति आ जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र बहुत स्थलों के सूत्र वार्त्तिकों में यह रीति दीख पड़ती है, कि जैसे कहीं दो पदों की अनुवृत्ति आती है, उन में से जब एक को छोड़ना होता है तब द्वितीय पद को फिर के पढ़ते हैं। तो यही प्रयोजन है कि उन दोनों पदों की अनुवृत्ति एक साथ ही चलती है। उस में से एक को छोड़ के दूसरे पद की अनुवृत्ति नहीं जा सकती ॥ १७ ॥

अब इस पूर्व परिभाषा के होने में यह दोष है कि (अलुगुत्तरपदे) इस सूत्र का अधिकार चलता है। उस में 'अलुक्' अधिकार तो 'आनङ्' विधान से पूर्व २ ही रहता है, फिर उत्तरपदाधिकार पादपर्यन्त क्यों जावे ? इसलिये यह परिभाषा है—

१८—एकयोगनिर्दिष्टानामप्येकदेशानुवृत्तिर्भवति ॥ अ० ४।१।२७॥

एक सूत्र में पृथक् पठित पदों में से भी कहीं एकदेश की अनुवृत्ति होती है।

इस से उत्तरपदाधिकार का पादपर्यन्त जाना सिद्ध हो गया। तथा (दामहायनान्ताच्च) यहां पूर्व सूत्र से 'संख्या' की अनुवृत्ति आती है, और 'अव्यय' की नहीं।

और (पत्त्वात्तिः) इस सूत्र में पूर्व सूत्र से 'मूल' शब्द की अनुवृत्ति आ जाती है, 'पाक' की नहीं आती, इत्यादि ॥ १८ ॥

(अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) यहां प्रत्ययग्रहण से सवर्ण का निषेध किया है। इस का यही प्रयोजन है कि (सनाशंसभिक्ष उः) इत्यादि में 'उ' आदि प्रत्यय अपने सवर्णी दीर्घ आदि के ग्राहक न हों। सो जब स्त्रीप्रत्यय को छोड़ के अन्य दीर्घ प्रत्यय से किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती, तो दीर्घ प्रत्यय नहीं हो सकता। इसलिये प्रत्यय ग्रहण के व्यर्थ होने से यह ज्ञापक होता है कि इस सूत्र में यौगिक प्रत्यय का निषेध है। 'प्रतीयते विधीयते भाव्यतेऽनेनाऽसौ प्रत्ययः, प्रत्ययोऽप्रत्ययः' इसी व्याख्यान से यह परिभाषा निकली है—

१९—भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणन्न ॥ अ० १ । १ । ६९ ॥

जो विधान किया जाता है, उस से सवर्णी का ग्रहण नहीं होता।

जैसे—(त्यदादीनामः) यहां अकार का विधान किया है, उससे दीर्घ सवर्णी का ग्रहण नहीं होता।

और (ज्यादादीयसः) यहां 'ईयसुन्' प्रत्यय के ईकार को आकारादेश न कहते किन्तु अकार कहते, तो सवर्णग्रहण से दीर्घ हो ही जाता, फिर निश्चित हुआ कि यहां भी पूर्ववत् भाव्यमान अकार सवर्णग्राही नहीं हो सकता, इसलिये दीर्घ कहा, इत्यादि ॥ १९ ॥

यदि भाव्यमान से सवर्णी का ग्रहण नहीं होता तो (दिव उत्; ऋत उत्) इन सूत्रों में भाव्यमान उकार को तपर करना व्यर्थ है। क्योंकि तपर करने का यही प्रयोजन है कि इकार तत्काल का ग्राहक हो, अपने सवर्णी का ग्रहण न करे। फिर (अणुदित्०) परिभाषा से सवर्णग्रहण तो प्राप्त ही नहीं, उकार तपर क्यों पढ़ा ? इसलिये यह परिभाषा है—

२०-भवत्युकारेण भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रहणम् ॥

अ० ६ । १ । १८५ ॥

भाव्यमान उकार से सवर्णों का ग्रहण होता है।

इस से पूर्वोक्त उकार में तपर सार्थक हुआ । और अन्यत्र फल यह है कि (अदसोऽसेर्दादुदोमः) यहां भाव्यमान ह्रस्व उकार सवर्णों का ग्राही होता है। तभी 'अमूभ्याम्' आदि में दीर्घ ऊकारादेश हुआ ॥ २० ॥

'गवे हितं=गोहितम्' यहां समास में चतुर्थ्येकवचन प्रत्यय का लुक् किये पीछे (प्रत्ययलोपे०) सूत्र से प्रत्ययलक्षण कार्य मानें, तो 'गो' शब्द के ओकार को अवादेश प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

२१-वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ॥

वर्ण के आश्रय से जो कार्य कर्त्तव्य हो, तो प्रत्ययलक्षण न हो। अर्थात् उस प्रत्यय को मान के वह कार्य न होवे।

इसलिये अच् को मान के अवादेश नहीं होता, इत्यादि ॥ २१ ॥

(अतः कृकमिकंस०) इस सूत्र में 'कंस' शब्द का पाठ व्यर्थ है, क्योंकि उणादि में (कमेः सः) इस सूत्र से 'कम्' धातु का कंस शब्द बना है। कम् धातु के सामान्य प्रयगों के ग्रहण में 'कंस' शब्द का भी ग्रहण हो जाता, फिर कंस शब्द क्यों पढ़ा। इसलिये यह परिभाषा है—

२२-उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ॥ अ० १ । १ । ६१ ॥

उणादि प्रातिपदिक अव्युत्पन्न, अर्थात् उन का सर्वत्र प्रकृति, प्रत्यय, कारक आदि से यौगिक यथार्थ अर्थ नहीं लगता। अर्थात् उणादि शब्द बहुधा रूढ़ि होते हैं।

इसलिये (अतः कृकमिकंस०) सूत्र में 'कंस' ग्रहण सार्थक है।

इसी प्रकार (प्रत्ययस्य लुक्०) इस सूत्र से 'परशव्य' शब्द का लुक् कहा हुआ उकार प्रत्यय होने से भी अव्युत्पन्नपक्ष मान के 'परशु' शब्द के उकार का लुक् नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ २२ ॥

'देवदत्तश्चिकीर्षति' इत्यादि प्रयोगों में देवदत्त आदि शब्दों को सन्नन्त के धातु-संज्ञा आदि कार्य्य प्राप्त हैं, सो क्यों नहीं होते? जो देवदत्त के सहित सब वाक्य की धातुसंज्ञा हो जावे, तो (सुपो धातु०) इस सूत्र से जो देवदत्त के आगे विभक्ति है, उस का लुक् प्राप्त होवे। इसलिये यह परिभाषा है—

२३–प्रत्ययग्रहणे यस्मात्स प्रत्ययो विहितस्तदादेस्तदन्तस्य च ग्रहणं भवति ॥ अ० १ । ४ । १३ ॥

जिससे जो प्रत्यय विधान किया हो, वह जिसके आदि वा अंत में हो, उसी का ग्रहण हो। और जो उस वाक्य में प्रत्ययविधि से पद पृथक् हो, उसका सामान्य कार्यों में ग्रहण न हो।

इससे सन्नन्त की धातुसंज्ञा में देवदत्त का ग्रहण न हुआ, तो विभक्ति का लुक् भी बचगया।

इसी प्रकार 'देवदत्तो गार्ग्यः' यहां समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हो, तो मध्य विभक्ति का लुक् हो जावे।

तथा 'ऋद्धस्य राज्ञः पुरुषः' इस समुदाय की समाससंज्ञा हो, तो मध्य विभक्तियों का लुक् प्राप्त होवे। इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं ॥ २३ ॥

(येन विधिस्तदन्तस्य) इस परिभाषा सूत्र से 'दृषत्तीर्णा; परिषत्तीर्णा' इत्यादि प्रयोगों में (रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः) इस सूत्र से 'दृषद्' 'परिषद्' दकारान्त शब्दों से परे धातु के तकार को अनिष्ट नकारादेश प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

२४–प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

जिन सूत्रों में प्रत्ययग्रहण से कार्य होते हैं, वहां पञ्चम्यन्त से परे वह कार्य न हो। अर्थात् पंचम्यन्त से परे प्रत्ययग्रहण में तदन्तविधि न होवे।

इससे 'परिषत्तीर्णा' आदि में धातु के तकार को नकार आदेश नहीं होता, इत्यादि॥२४॥

'कुमारीगौरितरा' इत्यादि प्रयोगों में तदन्तविधि मानें, तो 'कुमारी' शब्द को भी ह्रस्व प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

२५–उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे रूपग्रहणं द्रष्टव्यम् ॥ अ० ६ । ३ । ५० ॥

(अलुगुत्तरपदे) जो षष्ठाऽध्याय के तृतीय पाद में प्रत्ययनिमित्त कार्य है, वहां स्वरूप का ग्रहण होना चाहिये, अर्थात् तदन्तविधि न हो।

इस से 'कुमारीगौरितरा' यहां 'कुमारी' शब्द को ह्रस्व नहीं होता।

और 'रूप' ग्रहण से यह भी प्रयोजन है कि (हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु) जो इस सूत्र में २३ वीं परिभाषा के अनुकूल 'यत्' और 'अण्' प्रत्यय जिस से विहित हों, उस उत्तरपद के परे पूर्व को कार्य होजावे, सो इष्ट नहीं है। क्योंकि जो तदन्तविधि हो तो केवल हृदय शब्द से 'हृद्यम्; हार्दम्' प्रयोग नहीं बनें। इस में 'लेख' ग्रहण ज्ञापक है कि अणन्त उत्तरपद का ग्रहण हो, तो लेख शब्द 'अण्' प्रत्ययान्त पृथक् ग्रहण व्यर्थ है। इस से यह निश्चित हुआ कि इस उत्तरपदाधिकार के प्रत्ययाश्रितकार्यविधायक सूत्रों में तदन्तविधि नहीं होती ॥ २५ ॥

(प्रत्ययग्रहणे०) इस २३ वीं परिभाषा से (ष्यङः संप्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे) यहां तत्पुरुष में 'पुत्र' और 'पति' उत्तरपदों के परे 'ष्यङ्' को संप्रसारण कहा है, तो 'ष्यङ्' का जो आदि वा ष्यङन्त को कार्य होगा। इससे 'कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः=कारीषगन्धीपुत्रः; कारीषगन्धीपतिः; वाराहीपुत्रः; वाराहीपतिः' इत्यादि प्रयोग तो सिद्ध हो जावेंगे, परन्तु 'परमकारीषगन्धीपुत्रः, परमकारीषगन्धीपतिः' इत्यादि प्रयोग नहीं सिद्ध होंगे। क्योंकि जिस 'कारीषगन्धि' शब्द से ष्यङ् प्रत्यय विहित है, तो वही जिस के आदि में हो ऐसे ष्यङ् का ग्रहण हो सकता है, और परम के सहित ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिये यह परिभाषा है—

२६—अस्त्रीप्रत्ययेनानुपसर्जनेन ॥ अ० ६ । १ । १३ ॥

तदादिग्रहण परिभाषा स्त्रीप्रत्यय और उपसर्जन को छोड़ के प्रवृत्त होवे।

इस से सामान्य स्त्रीप्रत्यय 'परमकारीषगन्धीपुत्रः' इत्यादि में तदादि ग्रहण के दोष से संप्रसारण का निषेध नहीं होता।

और 'कारीषगन्ध्यमतिक्रान्तोऽतिकारीषगन्ध्यः, अतिकारीषगन्ध्यस्य पुत्रः अतिकारीषगन्ध्यपुत्रः' यहां ष्यङन्त स्त्रीप्रत्यय उपसर्जन, अर्थात् स्वार्थ में अप्रधान है। इसलिये संप्रसारण नहीं होता, इत्यादि ॥ २६ ॥

(सुप्तिङन्तं पदम्) इस सूत्र में 'अन्त' ग्रहण व्यर्थ है, क्योंकि जो (सुप्तिङ् पदम्) ऐसा सूत्र करते तो तदन्तविधि परिभाषा से अन्त की उपलब्धि से सुबन्त, तिङन्त की पदसंज्ञा हो ही जाती, फिर अन्तग्रहण व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक है—

२७—संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तविधिर्न भवति ॥ अ० १ । ४ । १४ ॥

प्रत्ययों की संज्ञा करने में तदन्तविधि नहीं होती।

इस से अन्तग्रहण सार्थक होना तो स्वार्थ में चरितार्थ है, और अन्यत्र फल यह है कि (तरप्तमपौ घः) यहां 'तरप्; तमप्' प्रत्ययान्त की 'घ' संज्ञा नहीं होती। जो तरप् प्रत्ययान्त की 'घ' संज्ञा हो जावे तो 'कुमारीगौरितरा' यहां घसंज्ञक के परे 'कुमारी' शब्द को ह्रस्व हो जावे। सो इस परिभाषा से नहीं होता।

और (कृत्तद्धितसमासाश्च) यहां कृत्तद्धित प्रत्ययों में अन्तग्रहण नहीं किया, और प्रातिपदिकसंज्ञा के होने से तदन्तविधि भी नहीं हो सकती, इसलिये कृत्तद्धित में अर्थवान् की अनुवृत्ति करने से कृदन्त और तद्धितान्त ही अर्थवान् होते हैं, केवल कृत्, तद्धित नहीं। क्योंकि (न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या न च केवलप्रत्ययः) इस महाभाष्य के प्रमाण से प्रत्ययान्त ही अर्थवान् होता है।

और 'बहुच्' प्रत्यय प्रातिपदिक से नहीं होता, किन्तु सुबन्त से पूर्व बहुच् कहा है। बहुच् प्रत्यय के सहित जो समुदाय है, वहां प्रातिपदिकसंज्ञा होने की कुछ आवश्यकता नहीं है। जैसे 'बहुपटवः' यहां बहुच् के होने से पहिले ही अथवा 'पटु' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा तो सिद्ध ही है। फिर 'बहुच्' प्रत्यय की विवक्षा में जिस विभक्ति और वचन का प्रयोग करना हो उस को रख के 'बहुच्' प्रत्यय लाना चाहिये। जैसे—'पटु+जस्' इस सुबन्त के पूर्व 'बहुच्' आकर 'बहुपटवः' प्रयोग सिद्ध हो गया। इसी प्रकार अन्य प्रयोगों में जान लेना चाहिये।

और 'सर्वकः' 'विश्वकः' इत्यादि में जो 'अकच्' प्रत्यय मध्य में होता है, उस के आगे परिभाषा लिखी है कि—(तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते) 'सर्व' प्रातिपदिक के एक देश के मध्य में आया 'अकच्' उसी प्रातिपदिक के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है॥२७॥

२३ वीं परिभाषा के होने में ये भी दोष हैं कि 'अवतप्ते नकुलस्थितं त एतद्' यहां क्त प्रत्ययान्तस्थित शब्द के साथ सप्तम्यन्त का समास कहा है, सो गतिसंज्ञक 'अव' शब्द के सहित सप्तम्यन्त और कर्त्तृकारकवाची 'नकुल' शब्द के सहित क्तान्त कृदन्त स्थित शब्द है। इस कारण समास नहीं प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

२८—कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणं भवति ॥ अ० १।४।१३॥

जहां कृत्प्रत्यय के ग्रहण से कार्य हो, वहां उस कृदन्त के पूर्व गतिसंज्ञक और कारक हो तो भी वह कार्य हो जावे।

इस से गतिसंज्ञक 'अव' और कारक 'नकुल' के होने से भी समास हो जाता है।

तथा 'सांकूटिनम्' यहां 'इनुण्' कृत्प्रत्ययान्त से 'अण्' तद्धित होता है। सो जो 'कूटिन्' शब्द से करें, तो उसी के आदि को वृद्धि होवे। इस परिभाषा से गतिसंज्ञक 'सम्' के सहित के 'अण्' के होने से सम् के सकार को वृद्धि होती है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

(गतिरनन्तरः) इस सूत्र में 'अनन्तर' ग्रहण इस परिभाषा के होने में ज्ञापक है॥२८॥

(येन विधिस्तदन्तस्य) इस परिभाषासूत्र में सामान्य करके तदन्तविधि कही है। विशेष विषय में उसका अपवादरूप वक्ष्यमाण परिभाषा है—

२९—पदाङ्गाधिकारे तस्य तदन्तस्य च ॥ अ० १।१।७२॥

उत्तरपदाधिकार, अर्थात् षष्ठाध्याय के तृतीयपाद, में और अङ्गाधिकार में जिस को कार्य्यविधान हो, वा जिस के आश्रय हो उस का, और वह जिस के अन्त में हो, उन दोनों का ग्रहण होता है।

जैसे—(इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु) इस सूत्र में 'इष्टकचितं चिन्वीत' यहां उसी 'इष्टका' शब्द को ह्रस्व और 'पक्वेष्टकचितं चिन्वीत' यहां तदन्त को भी ह्रस्व होता है। 'इषीकतूलेन; मुञ्जेषीकतूलेन; मालभारिणी कन्या; उत्पलमालभारिणी कन्या' यहां भी 'इषीका' और 'माला' शब्द को दोनों प्रकार ह्रस्व हुआ है।

अङ्गाधिकार में (सान्तमहतः संयोगस्य) 'महान्' यहां उसी महत् शब्द की उपधा को दीर्घ और 'परममहान्' यहां तदन्त को भी होता है। इत्यादि अनेक उदाहरण महाभाष्य में लिखे हैं॥ २९॥

(एकाचो द्वे प्रथमस्य) यहां अनेकाच् धातु के प्रथम एकाच् अवयव को द्वित्व होता है, जैसे 'जजागार' यहां 'जा' भाग को द्वित्व हुआ है। जो केवल एकाच् धातु है, उस में प्रथम एकाच् अवयव कहा है, जिस को द्वित्व हो, जैसे—पपाच, इयाज इत्यादि। तथा 'एकाच्' शब्द में भी बहुव्रीहि समास है कि एक अच् जिस में हो, अर्थात् अन्य एक वा अधिक हल् हों, वह 'एकाच्' अवयव कहाता है। सो जहां केवल एक ही अच् धातु है, जैसे—इयाय; आर, यहां 'इ; ऋ' धातुओं को द्वित्व कैसे हो सके? इसलिये यह परिभाषा है—

३०—व्यपदेशिवदेकस्मिन्॥ अ० १। १। २१॥

सत् निमित्त के होने से मुख्य जिसका व्यपदेश=व्यवहार हो, वह व्यपदेशी कहाता है; और एक वह है जिस के व्यवहार का कोई सहायी कारण न हो। उस एक में व्यपदेशी के तुल्य कार्य होता है।

इस से एकाच् धातु 'पपाच' आदि में द्वित्व और केवल एकही अच् धातु 'इयाय; आर' आदि में भी द्विर्वचन हो जाता है। क्योंकि एकाच् और एकही अच् धातु की अपेक्षा में अनेकाच् व्यपदेशी है। तद्वत्कार्य मानने से सर्वत्र द्वित्व हो जाता है।

(आदेशप्रत्यययोः) इस सूत्र में प्रत्यय के अवयव शकार को मूर्द्धन्य कहा है, सो 'करिष्यति' आदि में तो हो ही जाता है। और 'स देवान् यक्षत्' यहां 'यक्षत्' क्रिया में केवल सिप् विकरण का सकारमात्र प्रत्यय है, उस को व्यपदेशिवद्भाव मान के मूर्द्धन्य होता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं।

लोक में भी यह व्यवहार होता है कि किसी के बहुत पुत्र हैं, वहां तो ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ का व्यवहार बनता है, और जिसका एकही पुत्र है, तो वहां उसी में ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ व्यवहार होता है॥ ३०॥

तद्धित में जैसे—'नडादि; गर्गादि और शिवादि' इत्यादि प्रातिपदिकों से अपत्य आदि अर्थों में 'अण्' आदि प्रत्यय कहे हैं, सो 'उत्तमनड; परमगर्ग और महाशिव' आदि प्रातिपदिकों से तदन्तविधि में क्यों नहीं होते? इसलिये यह परिभाषा है—

२

३१–ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः प्रतिषिध्यते ॥ अ० ५ । २ । ८७ ॥

प्रत्यय का ग्रहण करने वाले प्रातिपदिक से तदन्तविधि नहीं होता।

इसलिये 'उत्तमनड' और 'परमगर्ग' आदि प्रातिपदिकों से 'फक्' और 'यञ्' आदि प्रत्यय नहीं होते।

और इस परिभाषा के निकलने का ज्ञापक (पूर्वादिनिः; सपूर्वाच्च) ये दोनों सूत्र हैं। क्योंकि जो 'पूर्व' शब्द से विधान किया 'इनि' प्रत्यय तदन्त से भी हो जाता, तो द्वितीय सूत्र व्यर्थ होजाता। फिर व्यर्थ होकर यह ज्ञापक होता है कि यहां तदन्तविधि नहीं होता॥ ३१॥

'सूत्रान्त' प्रातिपदिकों से 'ठक्' और 'दशान्त' आदि प्रातिपदिकों से 'ड' आदि प्रत्यय कहे हैं। सो (३०) वीं परिभाषा से व्यपदेशिवद्भाव मान कर केवल 'सूत्र' और 'दश' आदि से 'ठक्' तथा 'ड' आदि प्रत्यय क्यों नहीं हो जाते? इसलिये यह परिभाषा है—

३२–व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

व्यपदेशिवद्भाव की प्रवृत्ति प्रातिपदिकाधिकार को छोड़ के होती है।

इसलिये केवल 'सूत्र' आदि शब्दों से 'ठक्' आदि प्रत्यय नहीं होते। और इस परिभाषा का ज्ञापक भी (पूर्वादिनिः, सपूर्वाच्च) ये दोनों सूत्र हैं। क्योंकि जो यहां व्यपदेशिवद्भाव होता तो (पूर्वान्तादिनिः) ऐसा एक सूत्र कर देते, तो सब काम सिद्ध हो जाता। फिर पृथक् २ दो सूत्र करने से ज्ञात हुआ कि यहां व्यपदेशिवद्भाव नहीं होता॥ ३२॥

(अचिश्नुधातु०) यहां 'श्रियौ; भ्रुवौ' उदाहरणों में तो केवल 'अच्' के परे 'इयङ्; उवङ्' होजाते हैं। और 'श्रियः; भ्रुवः' यहां 'इयङ्; उवङ्' न होने चाहियें, क्योंकि यहां केवल अच् परे नहीं है। इसलिये यह परिभाषा है—

३३–यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥ अ० १ । १ । ७० ॥

जिस प्रत्याहाररूप पर विशेषण के आश्रय से विधि हो, वह जिस के आदि में हो, उस के परे वह कार्य होना चाहिये।

इस से अजादि प्रत्यय के परे 'इयङ्, उवङ्' होते हैं, तो श्रियः; भ्रुवः' यहां अजादि [जस्] में भी दोष नहीं आता।

तथा [अवश्यलाव्यम्; अवश्यपाव्यम्] इत्यादि में [वान्तो यि प्रत्यये] सूत्र से यकारादि प्रत्यय के परे वान्तादेश हो जाता है।

(इको झल्) यहां झलादि 'सन्' लिया जाता है। इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं॥ ३३॥

(तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचनं नित्यम्) इस सूत्र में 'बहुवचन' ग्रहण न करते तो भी प्रयोजन सिद्ध हो जाता। क्योंकि एक तिष्य और दो पुनर्वसु इन तीन के होने से बहुवचन तो प्राप्त ही था, फिर 'द्विवचन' के कहने से उसी बहुवचन की प्राप्ति में द्विवचन हो जाता। इस प्रकार 'बहुवचन' ग्रहण व्यर्थ होकर ज्ञापक है कि 'तिष्य; पुनर्वसु' में कहीं एकवचन भी होता है, वहां एकवचन को द्विवचन न हो। इसलिये यह परिभाषा है—

३४—सर्वो द्वन्द्वो विभाषैकवद्भवति ॥ अ० १ । २ । ६३ ॥

दो वा अधिक किन्हीं शब्दों का द्वन्द्वसमास हो, वह सब विकल्प करके एकवचन होता है।

इस से 'तिष्य; पुनर्वसु' के एकवचनपक्ष में द्विवचन हो, इसलिये बहुवचनस्थानी का ग्रहण है।

तथा इसी परिभाषा से 'घटपटम्; घटपटौ; ईपलोमकूलम्; माथोत्तरपदव्यपनुदम्' इत्यादि में भी एकवचन सिद्ध हो जाता है। समाहार द्वन्द्व सर्वत्र एक ही वचन होता है।

और यह परिभाषा इतरेतरद्वन्द्व समास में लगती है। इसी से इसके उदाहरण भी सब इतरेतरद्वन्द्व के दिये हैं ॥ ३४ ॥

(व्यत्ययो बहुलम्) इस से 'स्य' आदि विकरणों का व्यत्यय होना सूत्रार्थ है। तथा (षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा) इस सूत्र से भी षष्ठीयुक्त 'पति' शब्द की घिसंज्ञा का वेद में विकल्प है। इन दोनों में भाष्यकार ने विभाग करके यह परिभाषा सिद्ध की है—

३५—वा छन्दसि सर्वे विधयो भवन्ति ॥ अ० १ । ४ । ६ ॥

वेद में सब कार्य विकल्प करके होते हैं।

जैसे—'दक्षिणायाम्' इस सप्तम्यन्त की प्राप्ति में 'दक्षिणायाः' ऐसा प्रयोग होता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ३५ ॥

किसी विद्यार्थी ने 'अग्नी' ऐसा द्विवचनान्त शब्द उच्चारण किया, जो उसका कोई अनुकरण करे कि 'अग्नि इत्याह' तो यहां अनुकरण में साक्षात् द्विवचन के न होने से जो प्रगृह्यसंज्ञा न होवे, तो इकार के साथ संधि होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

३६—प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥ अ० ८ । २ । ४६ ॥

जो अनुकरण किया जाता है, वह प्रकृति के तुल्य होता है।

इस से 'अग्नी' द्विवचनप्रकृति के तुल्य अनुकरण को मान के प्रगृह्यसंज्ञा होने से संधि नहीं होती। और एकवचन बहुवचन में तो संधि होती है।

'कुमार्य् लृतक इत्याह' यहां 'ऋतक' शब्द के अनुकरण 'लृतक' के परे भी यणादेश होता है।

'द्विः पचन्त्वित्याह' यहां 'द्विः पचन्तु' शब्द के अनुकरण में भी अतिङ् से परे तिङ् पद निघात हो जाता है।

(अर्थवदधातुरप्रत्ययः०) इस सूत्र में धातु का पर्युदास प्रतिषेध मानें, कि धातु से अन्य अर्थवान् की प्रातिपदिकसंज्ञा हो, इस से 'क्षि' आदि धातुओं के अनुकरण को प्रकृतिवत् होने से स्वाश्रय कार्य मानकर प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाती है। फिर पंचमी विभक्ति के एकवचन में क्षिधातु को इयङ् आदेश नहीं प्राप्त है। इसलिये धातु के अनुकरण को प्रकृतिवत् मान के 'इयङ्' आदेश भी हो जाता है। इस से (क्षियो दीर्घात्; परौभुवोऽवज्ञाने; नेर्विशः) इत्यादि सब निर्देश ठीक बनजाते हैं॥ ३६॥

'भवतु; पचतु' इत्यादि की पदसंज्ञा न होनी चाहिये, क्योंकि तिङन्त की पद-संज्ञा कही है। यहां तो तिप् के इकार को उकार हो जाने से तिङ् नहीं रहा। इसलिये यह परिभाषा है—

३७—एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति॥ अ० ४। १। ८३॥

जिस किसी का एक अवयव विपरीत हो जावे, तो वह अन्य नहीं हो जाता, किन्तु वही बना रहता है।

इससे इकार के स्थान में उकार हो जानेसे भी पदसंज्ञा हो जाती है।

(प्राग्दीव्यतोऽण्) इस सूत्र से 'दीव्यत्' शब्द पर्यन्त 'अण्' प्रत्यय का अधिकार करते हैं, और दीव्यत् शब्द कहीं नहीं है, किन्तु 'दीव्यति' शब्द है। इस का एकदेश इकार के जाने से 'दीव्यत्' रह जाता है। इसी ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है।

लोक में भी किसी कुत्ते का कान वा पूंछ काट लिया जावे, तो उसको घोड़ा वा गधा नहीं कहते, किन्तु कुत्ता ही कहते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ३७॥

'स्योनः' यहां 'सिवु' धातु से उणादि 'न' प्रत्यय के परे वकार को 'ऊठ्' होकर वकार को स्थानिवत् मानने से धातु के इकार को 'लघूपधगुण' और उसी इकार को 'यणादेश' दोनों प्राप्त हैं। इस में गुण पर और यणादेश अन्तरङ्ग है। अब दोनों में से कौनसा कार्य होना चाहिये? इसलिये यह परिभाषा है—

३८—पूर्वपरनित्यान्तरङ्गाऽपवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः॥

पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग, और अन्तरङ्ग से अपवाद ये सब पूर्व २ से उत्तर २ बलवान् होते हैं।

यह परिभाषा महाभाष्य के अभिप्रायानुकूल है, अर्थात् इसी प्रकार की कहीं नहीं लिखी। पूर्व से पर बलवान् होना यह विषय (विप्रतिषेधे परं कार्यम्) इसी सूत्र का है। जैसे-'अत्रि' इस शब्द से अपत्याधिकार में ऋषिवाची होने से 'अण्' प्राप्त और "इकारान्तद्व्यच्" होने से ढक् प्राप्त है। सो पूर्व 'अण्' को बाध के परविहित 'ढक्' होता है। जैसे--'अत्रेरपत्यम्=आत्रेयः' इत्यादि।

'भू' धातु से लिट् लकार के 'णल्' प्रत्यय के परे 'भू+अ' इस अवस्था में द्वित्व, यणादेश, उवङ्, गुण, वृद्धि और वुक् आगम ये सब प्राप्त हैं। द्विर्वचन नित्य होने से पर यणादेश का बाधक है। उवङ् अन्तरंग होने से नित्य द्वित्व का भी बाधक है। और उवङ् का अपवाद गुण, गुण का अपवाद वृद्धि, और इन दोनों का अपवाद निरवकाश होने से 'वुक्' हो जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत प्रयोगों में यह परिभाषा लगती है। 'दुद्यूषति' यहां 'सन्' प्रत्यय के परे 'दिव्' धातु के वकार को 'ऊठ्' किये पीछे द्विर्वचन और यणादेश दोनों प्राप्त हैं, नित्य होने से द्विर्वचन होना चाहिये। फिर नित्य द्विर्वचन से भी अन्तरङ्ग होने से 'यणादेश' प्रथम हो जाता है, इत्यादि ॥ ३८ ॥

'ईजतुः' यहां यज् धातु से 'अतुस्' प्रत्यय के परे द्वित्व को बाध के परत्व से संप्रसारण होता है। फिर द्वित्व होना चाहिये वा नहीं? इसलिये यह परिभाषा है—

३९—पुनः प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम् ॥ अ० १ । ४ । २ ॥

परत्व से वा अन्य किसी प्रकार से प्रथम बाधक कार्य हो जावे, फिर जो उत्सर्ग कार्य की प्राप्ति हो तो उत्सर्ग भी हो जावे।

इस से 'यज्' धातु को संप्रसारण किये पीछे भी द्वित्व होजाता है।

इसी प्रकार परत्व से 'हि' के स्थान में 'तातङ्' आदेश होने से फिर 'हि' को 'धि' न होना चाहिये। सो भी 'तातङ्' के निषेधपक्ष में 'हि' को 'धि' होकर 'भिन्धि' आदि प्रयोग बन जाते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ३९ ॥

लोक में यह रीति है, कि तुल्य अधिकारी दो स्वामियों का एक भृत्य होता है, तो वह आगे पीछे दोनों के कार्य किया करता है। परन्तु जो उस भृत्य को दोनों स्वामी अनेक दिशाओं में एक काल में कार्य करने के लिये आज्ञा दें, तो उस समय जो वह किसी का विरोधी न हुआ चाहे, तो दोनों के कार्य न करे। क्योंकि एक को एककाल में दो दिशाओं में जाके दो कार्य करना असम्भव है। फिर जिस का पीछे करेगा वही अप्रसन्न होगा।

इसी प्रकार सूत्रों में भी दो में जो बलवान् होगा, वह प्रथम हो जावेगा, और जो दोनों तुल्यबल वाले होंगे, तो एक दूसरे को हटाने से लोक के तुल्य एक भी कार्य

न होगा। जैसे—स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान 'त्रि;चतुर' शब्द को सामान्य विभक्तियों में 'तिसृ; चतसृ' आदेश कहे हैं, और 'त्रि' शब्द को 'आम्' विभक्ति के परे 'त्रय' आदेश भी कहा है, फिर (विप्रतिषेधे परं कार्यम्) इस सूत्र से पर विप्रतिषेध मान के प्रथम 'तिसृ' आदेश हो गया। फिर उस को स्थानिवत् मान के 'त्रय' आदेश भी होना चाहिये, तो लोकवत् अनिष्टप्रसङ्ग आजावे। इसलिये यह परिभाषा है—

४०—सकृद्गता विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव ॥ अ० १।४।२॥

एककाल में जब दो कार्यों की प्राप्ति होती है, तब विप्रतिषेध में पर का कार्य होकर फिर दूसरे पूर्व सूत्र का कार्य प्रवृत्त नहीं हो सकता। क्योंकि जो बाधक हुआ सो हुआ।

इस से फिर स्थानिवत् मान के 'त्रय' आदेश नहीं होता। इस कारण [तिसृणाम्] इत्यादि प्रयोग शुद्ध ठीक बन जाते हैं। और जो दूसरा कार्य भी पश्चात् प्राप्त हो, और प्रथम हुआ कार्य कुछ न बिगड़े, तो [३९] वीं परिभाषा के अनुकूल वह भी कार्य्य हो जावेगा ॥ ४० ॥

अब यह विचार भी कर्त्तव्य है कि धातुओं से परे जो लकारों के स्थान में 'तिप्' आदि परस्मैपद और आत्मनेपद प्रत्यय होते हैं, वे पहिले हों किंवा विकरण हों? आत्मनेपदादि के करने से प्रथम और पीछे भी विकरणों की प्राप्ति है, इस से वे नित्य हैं। और आत्मनेपद परस्मैपद विधायक प्रकरण से परे भी विकरण ही हैं, और विकरण किये पीछे आत्मनेपद नियम की प्राप्ति नहीं, क्योंकि (अनुदात्तङित०) यह पञ्चमीनिर्दिष्ट कार्य व्यवधानरहित उत्तर को होना चाहिये। विकरणों के व्यवधान से फिर आत्मनेपद नहीं पाता। और जो आत्मनेपद नियम को अनवकाश मानें सो भी नहीं। क्योंकि अदादि और जुहोत्यादिगण में जहां विकरण विद्यमान नहीं रहते, वहां और लिङ्, लिट् लकारों में आत्मनेपद, परस्मैपद को अवकाश ही है। फिर 'एधते; स्पर्द्धते' आदि में आत्मनेपद नहीं हो सकता। इसलिये यह परिभाषा है—

४१—विकरणेभ्यो नियमो बलीयान् ॥ अ० १।४।१२॥

विकरण विधि से आत्मनेपद परस्मैपद नियमविधान बलवान् है।

क्योंकि जो आत्मनेपद आदि के होने से पहिले विकरण ही होते हों, तो (आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्; पुषादिद्युताद्य्लृदितः परस्मैपदेषु) इन विकरणविधायक-सूत्रों में आत्मनेपद के आश्रय से विकरणविधान क्यों किया? इससे यह ज्ञापक है कि विकरणविधि से पहिले ही आत्मनेपद परस्मैपद नियम कार्य होते हैं। इस से 'एधते; स्पर्द्धते' आदि में आत्मनेपद सिद्ध हो गया। इत्यादि प्रयोजन इसके हैं ॥ ४१ ॥

'न्यविशत; व्यक्रीणीत' यहाँ 'नि; वि' उपसर्गों से परे 'विश' और 'क्री' धातु से आत्मनेपद होता है। सो विकरण, आत्मनेपद और अट् आगम तीनों कार्य्य एक साथ प्राप्त हैं। इन में से आत्मनेपद सब से पहिले होकर अब विकरण करने के पहिले और पीछे भी 'अट्' प्राप्त है। इस से अट् नित्य हुआ। और विकरण भी 'अट्' करने से पहिले तथा पीछे भी प्राप्त है, तो विकरण भी नित्य हुए। जब दोनों नित्य हुए तो परत्व से 'अट्' प्राप्त है। और अङ्ग कार्य अट् से विकरणों का होना प्रथम इष्ट है, क्योंकि विकरण के आजाने पर सब की 'अङ्ग' संज्ञा हो, और अङ्ग संज्ञा के पश्चात् 'अट्' होवे। इसलिये यह परिभाषा है—

४२–शब्दान्तरस्य च प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवति ॥

अ० १। ३। ६० ॥

जो दो कार्य एक साथ प्राप्त हों, और वे दोनों नित्य ठहरते हों, तो उन में एक विधि के होने से पहिले जिस शब्द को दूसरी विधि प्राप्त है, और पहिले कार्य के होने पश्चात् वह विधि दूसरे शब्द को प्राप्त हो, तो वह अनित्य होता है।

यहां 'अट्' आगम पहिले तो केवल 'विश्' को प्राप्त है, और विकरण किये पीछे विकरणसहित सब की अंगसंज्ञा होने से सब को प्राप्त है। इसलिये 'अट्' अनित्य हुआ। फिर प्रथम विकरण हो कर पुनः प्रसंग मानने से 'अट्' हो जाता है। इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ४२ ॥

[नृकुट्यां भवः=नार्कुटः; नृपतेरपत्यं=नार्पत्यः] यहां जो 'नृ' शब्दको वृद्धि होती है, उसी वृद्धिरूप आकार का सहचारी रेफ रहता है। उस रेफ की खर् प्रत्याहार के परे [खरवसानयोर्विसर्जनीयः] इस सूत्र से विसर्जनीय होने चाहियें। इसलिये यह परिभाषा है —

४३–असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ अ० ८। ३। १५ ॥

४४–असिद्धं बहिरङ्गलक्षणमन्तरङ्गलक्षणे ॥ अ० ६। ४। १३२ ॥

इन में से पहिली परिभाषा बहुधा व्यवहारकाल में प्रवृत्त होती, और दूसरी बहुधा व्याकरणादिशास्त्रों में लगती है। बहिरंग कार्य करने में अन्तरंग कार्य असिद्ध हो जाता है।

'बहिर्' और 'अन्तर्' इन दोनों शब्दों के आगे जो 'अंग' शब्द है, वह उपकारक-वाची और अंग शब्द के साथ दोनों शब्दों का बहुव्रीहि समास है।

[निमित्तसमुदायस्य मध्ये यस्य कार्यस्यांगमुपकारिनिमित्तं बहिः कार्यान्तरापेक्षया दूरमधिकं वा वर्त्तते, तद् बहिरङ्गं कार्य्यम् । एवं निमित्तसमुदायस्य मध्ये यस्य कार्यस्याङ्गमुपकारिनिमित्तमन्तः कार्यान्तरापेक्षया सन्निहितं वा न्यूनं वर्त्तते, तदन्तरङ्गं कार्यम् । तथा बह्वपेक्षं बहिरङ्गमल्पापेक्षमन्तरङ्गम् ।]

'बहिरङ्ग' उस को कहते हैं कि प्रकृति, प्रत्यय, वर्ण और पद के समुदाय में जिस कार्य के उपकारी अवयव दूसरे कार्य की अपेक्षा से दूर वा अधिक हों । और 'अन्तरङ्ग' वह कहाता है कि प्रकृति आदि निमित्तों के समुदाय में जिस कार्य के उपकारी अवयव दूसरे कार्य की अपेक्षा से समीप वा न्यून हों। तथा जो बहुत निमित्त और व्याख्यान की अपेक्षा रक्खे वह 'बहिरङ्ग,' तथा थोड़े निमित्त और व्याख्यान की अपेक्षा रक्खे वह 'अन्तरङ्ग' कहाता है। इसलिये प्रायः अन्तरङ्गकार्य प्रथम होता है, और बहिरङ्ग असिद्ध हो जाता है। और कहीं २ बहिरङ्ग प्रथम हो भी जावे, तो अन्तरङ्गकार्य की दृष्टि में असिद्ध अर्थात् नहीं हुआ सा ही रहता है।

अब प्रकृत में 'नार्कुटः; नार्पत्यः' यहां ककार पकार विसर्जनीय के निमित्त अन्तरङ्ग, और वृद्धि का निमित्त तद्धित बहिरङ्ग है। सो प्रथम बहिरङ्गकार्य वृद्धि हो भी जाती है। परन्तु अन्तरङ्गकार्य विसर्जनीय करने में वृद्धि के असिद्ध होने से रेफ ही नहीं, फिर विसर्जनीय किस को हो ?

तथा (वाह ऊठ्) इस सूत्र में 'ऊठ्' नहीं पढ़ते तो संप्रसारण की अनुवृत्ति आकर 'प्रष्ठ+वाह्+ण्वि+अस्' इस अवस्था में 'ण्वि' प्रत्यय के परे वकार को 'उ' संप्रसारण और पूर्वरूप हो कर 'प्रष्ठ+उह्+ण्वि+अस्' इस अवस्था में उकार को ओकार गुण और उस ओकार के साथ वृद्धि एकादेश होकर 'प्रष्ठौहः' आदि प्रयोग सिद्ध हो ही जाते, फिर 'ऊठ्' ग्रहण व्यर्थ होकर यह ज्ञापक होता है कि 'प्रष्ठौहः' आदि में गुण करते समय संप्रसारण असिद्ध होता है। अर्थात् यजादि प्रत्ययनिमित्त भ संज्ञा और भसंज्ञाके आश्रय संप्रसारण होता है। इस प्रकार बहुत अपेक्षा वाला होने से संप्रसारण बहिरङ्ग और 'वि' प्रत्यय को मान के गुण अंतरङ्ग है। फिर अंतरङ्ग गुण करने में जब संप्रसारण असिद्ध हुआ, तो गुण की प्राप्ति नहीं। जब गुण नहीं हुआ, तो वृद्धि होकर 'प्रष्ठौहः' आदि प्रयोग भी नहीं बन सकते। इसलिये 'ऊठ्' ग्रहण करना चाहिये। इसी 'ऊठ्' ग्रहण के ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है।

तथा 'पचावेदम्; पचामेदम्' यहां लोट् के उत्तम पुरुष के एकार को ऐकारादेश प्राप्त है। सो ऐत्व अंतरङ्ग की दृष्टि में (आद्गुणः) सूत्र से हुआ गुण बहिरङ्ग होने से असिद्ध है। इसलिये वहां एकार ही नहीं, तो ऐकार किसको हो ? इत्यादि इस परिभाषा के असंख्य प्रयोजन हैं।

लोक में भी अंतरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग असिद्ध ही माना जाता है। जैसे मनुष्य प्रातःकाल उठकर पहिले निज शरीर संबन्धी अंतरङ्गकार्यों को करता है, पीछे मित्रों के, और उसके पीछे सम्बन्धियों के काम करता है। क्योंकि मित्र आदि के कार्य निज शरीर की अपेक्षा में बहिरङ्ग हैं ॥ ४३–४४ ॥

अब अन्तरङ्गबहिरङ्गलक्षण परिभाषा में ये दोष हैं कि 'अक्षैर्दीव्यति अक्षद्यूः; हिरण्यद्यूः' यहां 'दिव्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के परे क्विप् को मान के वकार को 'ऊठ्' होता है। उस बहिरङ्ग ऊठ् को असिद्ध मानें, तो यणादेश नहीं हो सकता। इत्यादि दोषों की निवृत्ति के लिये यह अगली परिभाषा है—

४५—नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः ॥ अ० १।४।२ ॥

जहां दोनों अचों के समीप वा मध्य में कार्य विधान करते हों, वहां अन्तरङ्ग बहिरङ्गलक्षण परिभाषा नहीं लगती।

इस से 'अद्यूः' आदि में बहिरङ्ग ऊठ् को जब असिद्ध नहीं माना, तो यणादेश भी हो गया।

तथा (षत्वतुकोरसिद्धः) इस सूत्र में 'तुक्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि 'अधीत्य; प्रेत्य' इत्यादि प्रयोगों में तुक् अन्तरङ्ग और सवर्णदीर्घ तथा गुण एकादेश बहिरङ्ग है। जो 'तुक्' अन्तरङ्ग के करने में बहिरङ्ग एकादेश असिद्ध हो जाता, तो तुक् हो ही जाता। फिर तुग्विधि में एकादेश को असिद्ध करने से यह ज्ञापक निकला कि जो दो अचों के आश्रय बहिरङ्ग कार्य हो, वह अन्तरंग कार्य की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता। इसी तुक्ग्रहण ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है ॥ ४५ ॥

'गोमान् प्रियो यस्य स गोमत्प्रियः; यवमत्प्रियः; गोमानिवाचरति गोमत्यते; यवमत्यते' इत्यादि प्रयोगों में समासाश्रित अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक् द्विपदाश्रय होने से बहिरङ्ग, और (हल्ङ्यादि०) सूत्र से प्राप्त सुलोप एकपदाश्रय होने से अन्तरङ्ग है। सो जो बहिरङ्ग का बाधक अन्तरङ्ग हो जावे, तो नुम् आदि कार्य होकर 'गोमत्प्रियः' प्रयोग सिद्ध न हो, किन्तु 'गोमान्प्रियः' ऐसा प्राप्त होवे, सो अनिष्ट है। इसलिये यह परिभाषा है—

४६—अन्तरङ्गानपि विधीन् बाधित्वा बहिरङ्गो लुग् भवति ॥ अ० ७।२।९८ ॥

अन्तरङ्ग विधियों को बाध के भी बहिरङ्ग लुक् होता है।

अर्थात् जब अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक् समासाश्रय होने से बहिरङ्ग हुआ, एकपदाश्रयसुलोप आदि अन्तरङ्गों का बाधक होगया, तो (न लुमताङ्गस्य) इस सूत्र से 'नुम्' आदि करने में प्रत्ययलक्षण का निषेध होकर 'गोमत्प्रियः' इत्यादि प्रयोग बन जाते हैं।

तथा (प्रत्ययोत्तरपदयोश्च) इस सूत्र का यही प्रयोजन है कि 'त्वामिच्छति त्वद्यति; मद्यति; तवपुत्रस्त्वत्पुत्रः; मत्पुत्रः; त्वं नाथोऽस्य त्वन्नाथः; मन्नाथः' इत्यादि

प्रयोगों में युष्मद्, अस्मद् शब्दों को त्व, म आदेश होजावें । 'त्वं नाथोऽस्य' इस अवस्था में मध्यवर्त्तिनी विभक्ति का लुक् त्व, म आदेश होने के पहिले और पीछे भी प्राप्त होने से नित्य, और त्व, म आदेश अन्तरङ्ग हैं । नित्य से अन्तरङ्ग बलवान् होता है, यह तो कह चुके हैं । सो जो अन्तरङ्ग होने से त्व, म आदेश पहिले हो जावें, तो इस सूत्र का कुछ प्रयोजन न रहे । क्योंकि वर्त्तमान विभक्ति के परे (त्वमावेकवचने) सूत्र से त्व, म हों ही जावेंगें । फिर व्यर्थ होकर यह ज्ञापक हुआ कि अन्तरङ्ग विधियों का भी बहिरङ्ग लुक् बाधक होता है । फिर जब बहिरङ्ग लुक् पहिले हुआ, तो सूत्र सार्थक रहा । और इसी ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है ॥ ४६ ॥

'पूर्वैषुकामशमः' यहां पूर्वेषुकामशमी शब्द से तद्धित अण् प्रत्यय होता है । 'पूर्व+इषु+काम+शमी+अ' इस अवस्था में जो तद्धितप्रत्ययाश्रित बहिरङ्ग उत्तरपदवृद्धि से अन्तरङ्ग होने के कारण अकार इकार को गुण एकारादेश पहिले हो जावे, तो पूर्वोत्तरपद के पृथक् २ न रहने और उभयाश्रय कार्य में अन्तादिवद्भाव के निषेध होने से (दिशोऽमद्राणाम्) इस सूत्र से उभयपद वृद्धि नहीं हो सकती । इत्यादि दोषों की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

४७–पूर्वोत्तरपदयोस्तावत्कार्यं भवति नैकादेशः ॥ अ० १ । ४ । २ ॥

पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्य से अन्तरङ्ग भी एकादेश पहिले नहीं होता, किन्तु पूर्वोत्तरपदनिमित्त कार्य अन्तरङ्ग एकादेश से पहिले हो जाता है ।

इस से 'पूर्वैषुकामशमः' यहां अन्तरङ्ग मानकर प्रथम गुण एकादेश नहीं होता, किन्तु पहिले उत्तरपद को वृद्धि होकर वृद्धि एकादेश हो जाता है । यह भी परिभाषा (४५) वीं परिभाषाकी सहचारिणी है ।

इस का ज्ञापक यह है कि (नेन्द्रस्य परस्य) इस सूत्र में उत्तरपदवृद्धि का निषेध है कि उत्तरपद में 'इन्द्र' शब्द को वृद्धि न हो, जिस से 'सौमेन्द्रः' प्रयोग सिद्ध होजावे । सो जो 'सोम' के साथ 'इन्द्र' का एकादेश अन्तरङ्ग होने से पहिले हो जावे, तो इन्द्र शब्द का इकार तो एकादेश में गया, अन्त्य का अच् तद्धित प्रत्यय के परे लोप में गया, फिर जब उत्तरपद इन्द्र शब्द में कोई अच् ही नहीं, तो वृद्धि का निषेध क्यों किया ? इस से व्यर्थ होकर यह ज्ञापक हुआ कि अन्तरङ्ग भी एकादेश पूर्वोत्तरपद कार्य के पहिले नहीं होता, किन्तु अन्तरङ्ग का बाधक उत्तरपदवृद्धि पहिले होती है । इसलिये उत्तरपद में इन्द्र शब्द को वृद्धि का निषेध किया है ॥ ४७ ॥

'प्रधाय; प्रस्थाय' इत्यादि प्रयोगों में 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'ल्यप्' आदेश होता है । सो ल्यप् होने से पहिले 'प्रधा+त्वा' इस अवस्था में धा के स्थान में 'हि' और स्था को 'इकारादेश' तथा त्वा को 'ल्यप्' भी प्राप्त है । इस में 'हि' आदि आदेश

पर और अन्तरङ्ग हैं, और 'ल्यप्' बहिरङ्ग है। सो पर और अन्तरङ्ग मान के 'हि' आदि आदेश कर लें, तो 'प्रधाय; प्रस्थाय' आदि प्रयोग नहीं बन सकें, इसलिये यह परिभाषा है—

४८—अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यब् बाधते ॥ अ० २।४।३६॥

अन्तरङ्ग विधियों का भी बहिरङ्ग ल्यबादेश बाध करता है।

इस से 'हि' आदि आदेशों को बाध के प्रथम 'ल्यप्' हो गया, फिर हि आदि की प्राप्ति नहीं, तो 'प्रदाय; प्रधाय; प्रस्थाय' आदि प्रयोग सिद्ध हो गये।

और (अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति) इस सूत्र में 'ल्यप्' का ग्रहण नहीं करते, तो तकारादि प्रत्ययमात्र की अपेक्षा रखने वाला 'अद्' धातु को 'जग्धि' आदेश अन्तरङ्ग होने के कारण पूर्वपद की अपेक्षा रखने वाले समासाश्रित बहिरङ्ग ल्यप् आदेश से प्रथम हो जाता। फिर 'ल्यप्' ग्रहण व्यर्थ होकर इस का ज्ञापक हुआ कि अन्तरङ्गविधियों को भी बाध के पहिले 'ल्यप्' होता है। फिर तकारादि कित् न होने से 'जग्धि' आदेश प्राप्त नहीं होता। इसलिये 'ल्यप्' ग्रहण किया है। यही 'ल्यप्' ग्रहण इस परिभाषा के निकलने में ज्ञापक है ॥ ४८ ॥

'इयाय; इययिथ' इत्यादि प्रयोगों में पर होने से गुण वृद्धि, और नित्य होने से द्वित्व प्राप्त है। द्वित्व होने के पश्चात् 'इ+इ+अ; इ+इ+इथ' इस अवस्था में परत्व से गुण वृद्धि, और अन्तरङ्ग होने से सवर्णदीर्घ एकादेश प्राप्त है। सो जो बलवान् होने से अन्तरङ्ग सवर्णदीर्घ एकादेश हो जावे तो 'इयाय; इययिथ' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकें, इसलिये यह परिभाषा है—

४९—वार्णादाङ्गं बलीयो भवति ॥ अ० ६।४।७८॥

वर्णकार्य से अङ्गकार्य बलवान् होता है।

यहां वर्णकार्य सवर्णदीर्घ एकादेश और अंगकार्य गुणवृद्धि हैं। उस वर्णकार्य से अङ्गकार्य को बलवान् होने से गुणवृद्धि प्रथम होकर 'इयाय; इययिथ' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

(अभ्यासस्यासवर्णे) इस सूत्र में असवर्ण अच् के परे अभ्यास के इवर्ण उवर्ण को इयङ्, उवङ् आदेश कहे हैं। सो जो गुण वृद्धि का बाधक एकादेश हो जावे, तो अभ्यास से परे असवर्ण अच् हो ही नहीं सकता। फिर उस असवर्ण गुण वृद्धि किये अच् के परे इयङ्, उवङ् कहने से निश्चित ज्ञात हुआ कि वर्णकार्य का बाधक अङ्गकार्य होता है। यही असवर्ण अच् के परे इयङ्, उवङ् का विधान इस परिभाषा के होने में ज्ञापक है ॥ ४९ ॥

यह बात प्रथम लिख चुके हैं कि अन्तरङ्ग से भी अपवाद बलवान् होता है। (जुसि च) इस सूत्र से जो गुणविधान है, सो (क्ङिति च) आदि निषेधप्रकरण का अपवाद है, क्योंकि 'झि' के ङित् होने से उसके स्थान में जुस् भी ङित् ही आदेश होता है। सो जैसे 'अबिभयुः; अबिभरुः' इत्यादि में निषेध का बाधक जुस् में गुण होता है, वैसे ही 'चिनुयुः; सुनुयुः' यहां यासुट् के आश्रय से प्राप्त गुण निषेध का भी बाधक हो जावे, तो 'चिनुयुः; सुनुयुः' आदि प्रयोगों में गुण होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

५०—येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति॥ अ० १।१।६॥

जिस कार्य की प्राप्ति में अपवाद का आरम्भ किया जाता है, वह अपवाद उसी कार्य का बाधक होता है। और जिस की प्राप्ति अप्राप्ति में सर्वथा अपवाद का आरम्भ है, उसका बाधक नहीं होता।

इससे यह आया कि 'चिनुयुः; सुनुयुः' यहां दो ङित् हैं, एक सार्वधातुक जुस् प्रत्यय का, और दूसरा यासुट् का। सो सार्वधातुकप्रत्ययाश्रित जो ङित्व है, उसी को मान के प्राप्त गुण का निषेध है। उस निषेध की प्राप्ति में जुस् के परे गुण कहा है, और यासुट् के ङित्वनिमित्तप्राप्त निषेध के होने वा न होने में उभयत्र जुस् के परे गुण कहा है। क्योंकि 'अबिभयुः' आदि में यासुट् के विना केवल सार्वधातुक के आश्रयगुण का निषेध प्राप्त है। इसलिये 'चिनुयुः' आदि में गुण नहीं होता। इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं॥ ५०॥

अब इस पूर्वोक्त परिभाषा के विषय में यह विशेष विचार है कि (नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च) यह सूत्र अगले (न क्रोडादिबह्वचः; सहनञ्०) इन दो सूत्रों का अपवाद है। और दोनों की प्राप्ति में इस का आरम्भ भी है। पूर्व परिभाषा के अनुकूल माना जावे तो सह, नञ् और विद्यमानपूर्वक शब्दों से प्राप्त निषेध का बाधक ङीष् प्रत्यय 'सनासिका; अनासिका; विद्यमाननासिका' आदि में भी ङीष् प्रत्यय होना चाहिये, तो ये प्रयोग नहीं बन सकें। इसलिये यह परिभाषा है—

५१—पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते न परान्॥ अ० ४।१।५५॥

जो पहिले अपवाद और पीछे उत्सर्ग पढ़ा हो, तो वह अपने समीपस्थ कार्य का बाधक हो, और परविधि अर्थात् जिसके साथ व्यवधान है, उस का बाधक नहीं होवे।

इस से बह्वच् लक्षण से प्राप्त ङीष् के निषेध का बाधक हुआ, और सह, नञ्, विद्यमानपूर्वक नासिका से प्राप्त ङीष् के निषेध का बाधक नहीं हुआ। इस प्रकार 'सनासिका; अनासिका' आदि प्रयोग सिद्ध हो गये। इसी प्रकार अन्यत्र भी इसका विषय जानना ॥ ५१ ॥

अब (नासिकोदरौष्ठ०) इस सूत्र में जो ओष्ठ आदि पांच संयोगोपध शब्द हैं, उन से निषेध भी प्राप्त है। उस का बाधक पूर्व परिभाषा नहीं हो सकती, क्योंकि (नासिकोदर०) सूत्र से भी संयोगोपध का निषेध पूर्व है। (नासिकोदर०) सूत्र में नासिका और उदर शब्द तो सह आदि पूर्व होने से पर दोनों सूत्रों के अपवाद हैं, और ओष्ठ आदि शब्द सह आदि पूर्व हों तो (सहनञ्०) इस पर सूत्र के और सामान्य उपपद में (स्वाङ्गाच्चोप०) इस पूर्व सूत्र के भी अपवाद हों। सो दोनों के अपवाद होने चाहियें, या किसी एक के ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

५२—मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ अ० ४ । १ । ५५ ॥

जो पूर्व पर दोनों ओर उत्सर्ग और मध्य में अपवाद पढ़ा हो, तो वह अपने से पूर्व विधि का बाधक होता है, उत्तर का नहीं।

इस से 'विम्बोष्ठी; विम्बोष्ठा; दीर्घजङ्घी; दीर्घजङ्घा' इत्यादि उदाहरणों में संयोगोपधलक्षण निषेध का बाधक होगया, और 'सदन्ता; अदन्ता; विद्यमानदन्ता' इत्यादि में परसूत्र से प्राप्त निषेध की बाधा नहीं हुई। इसी प्रकार सर्वत्र योजना कर लेनी चाहिये ॥ ५२ ॥

(सुडनपुंसकस्य) इस सूत्र में सुट् की सर्वनामसंज्ञा का निषेध है, सो 'कुण्डानि तिष्ठन्ति; वनानि तिष्ठन्ति' यहां भी जो नपुंसक के सुट् की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध हो जावे, तो नुम् आदि होकर 'कुण्डानि' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं, सो न हो सकें। इसलिये यह परिभाषा है—

५३—अनन्तरस्य विधिर्वा प्रतिषेधो वा ॥ अ० १ । १ । ४३ ॥

जिस में कुछ अन्तर न हो, अर्थात् जो अत्यन्त समीप हो, उस का विधि वा निषेध होता है, दूरस्थ का नहीं।

इससे सुट् करके जो सर्वनामस्थानसंज्ञा की प्राप्ति है, उसी का निषेध करता है, शि की सर्वनामस्थानसंज्ञा का निषेध नहीं। इस से 'कुण्डानि' आदि प्रयोग बन जाते हैं।

और (नेटि) सूत्र में इडादि सिच् के परे वृद्धि का निषेध होता है। सो जो दूरस्थवृद्धि का भी हो, तो 'अमार्जीत्; अलावीत्; अपावीत्' इत्यादि में भी वृद्धि का निषेध होना चाहिये। इस परिभाषा से समीपस्थ हलन्तलक्षण वृद्धि का निषेध हो जाता है, सामान्य करके नहीं। इत्यादि प्रयोजन हैं॥ ५३॥

'ददति; दधति' इत्यादि प्रयोगों में जो प्रत्ययादि झकार को अन्तरङ्ग होने से अन्तादेश प्रथम हो जावे, तो अभ्यस्तसंज्ञकों से विहित प्रत्ययादि झकार को 'अत्' आदेश व्यर्थ और अनिष्टप्रयोग सिद्ध होने लगें। इसलिये ये परिभाषा हैं—

५४–न चापवादविषये उत्सर्गोऽभिनिविशते॥

५५–पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्सर्गाः॥

५६–प्रकल्प्य चापवादविषयमुत्सर्गः प्रवर्त्तते॥ अ० ६। १। ५॥

ये तीनों परिभाषा उत्सर्गापवाद की व्यवस्था के लिये हैं। अपवादविषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती। प्रथम अपवादों की और पश्चात् शेषविषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति होती है। अपवाद के विषय को छोड़ के अपने विषय में उत्सर्ग प्रवृत्त होते हैं।

इससे यह आया कि अभ्यस्तसंज्ञक से प्राप्त जो प्रत्ययादि झकार को 'अत्' आदेश, उस अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति न होने से प्रथम अपवाद प्रवृत्त हुआ, तो प्रत्ययादि झकार को अत् आदेश होकर 'ददति; दधति' आदि प्रयोग सिद्ध होगए।

और जैसे अन्त आदेश का बाधक 'पचेयुः; अजागरुः' आदि प्रयोगों में झि को जुस् होता है, वैसे 'ऐप्सन्' आदि प्रयोगों में उत्सर्ग का विषय है, उस में 'झि' को 'जुस्' नहीं होता। अर्थात् अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होती; और उत्सर्ग के विषय में अपवाद की प्रवृत्ति हो ही जाती है॥ ५४-५६॥

अब पूर्व परिभाषाओं से यह आया कि अपवादविषय में उत्सर्गों की प्रवृत्ति नहीं होती, किन्तु स्वविषय में अपवाद उत्सर्ग का बाधक होता है। तो (दीर्घोऽकितः) इस सूत्र में 'अकित्' ग्रहण व्यर्थ होता है, क्योंकि जो सामान्य से अभ्यास को दीर्घ कहते तो अनुनासिकान्त अकारोपध धातुओं के अभ्यास को दीर्घ का बाधक 'नुक्' आगम होकर अजन्त के न रहने से दीर्घ की प्राप्ति ही नहीं थी, तो 'यंयम्यते; रंरम्यते' आदि प्रयोग सिद्ध हो ही जाते। फिर 'अकित्' ग्रहण व्यर्थ होकर इस वक्ष्यमाण परिभाषा के निकलने में ज्ञापक है—

५७–अभ्यासविकारेष्वपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते॥ अ० ७। ४। ८३॥

अभ्यास के आदेशविधान प्रकरण में अपवाद उत्सर्गों के बाधक नहीं होते।

तो जब दीर्घरूप उत्सर्ग का बाधक 'नुक्' न रहा तो 'यंयम्यते' आदि में दीर्घ की प्राप्ति हुई। इसलिये अकित् ग्रहण सार्थक हुआ, यह तो स्वार्थ में चरितार्थ।

और अन्यत्र फल यह है कि 'डोढौक्यते; तोत्रौक्यते' इत्यादि प्रयोगों में उत्सर्गरूप ह्रस्व का बाधक दीर्घ नहीं होता। और जो ह्रस्व का अपवाद होने से औकार को औकार ही दीर्घ कर लेवें तो फिर ह्रस्व होकर गुण न होने, तो 'डोढौक्यते' आदि प्रयोग भी सिद्ध न हों। इत्यादि इस परिभाषा के अनेक प्रयोजन हैं॥ ५७॥

तच्छीलादि अर्थों में 'तृन्' प्रत्यय 'ण्वुल्' का अपवाद है, और ण्वुल् तथा तृन् असरूप प्रत्यय भी हैं। सो धात्वधिकार में असरूप प्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प करके होता है, पक्ष में उत्सर्ग भी हो जाता है। अब (निन्दहिंसक्लिश०) इस सूत्र में 'वुञ्' प्रत्यय का 'तृन्' अपवाद क्यों पढ़ा, क्योंकि तृन् के द्वितीय पक्ष में ण्वुल् होकर 'निन्दकः; हिंसकः' आदि प्रयोग बन ही जाते, कि जो वुञ् प्रत्यय के होने से बनते हैं। और 'निन्दकः' आदि में ण्वुल्, वुञ् का स्वर भी एक ही होता है। एक 'असूयकः' शब्द के स्वर में तो ण्वुल्, वुञ् के होने से भेद पड़ेगा। ण्वुल् का स्वर 'असूयकः', वुञ् का 'असूयकः'। और 'निन्दकः' आदि में आद्युदात्त ही रहेगा। फिर 'निन्द' आदि धातुओं से वुञ् विधान व्यर्थ हुआ। इसलिये यह ज्ञापकसिद्ध परिभाषा है—

५८–ताच्छीलिकेषु सर्व एव तृजादयो वाऽसरूपेण न भवन्ति॥ अ० ३। २। १४६॥

तृच् आदि अपवादों के साथ असरूप उत्सर्गरूप प्रत्यय तच्छीलाधिकारविहित अपवादों के पक्ष में नहीं होते।

इस से तच्छीलाधिकारविहित 'तृन्' के पक्ष में जब 'ण्वुल्' नहीं हो सकता, तो निन्द आदि धातुओं से वुञ्विधान सार्थक होगया। और 'असूयकः' में स्वरभेद होने के लिये 'वुञ्' कहना आवश्यक ही है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ५८॥

अब धात्वधिकार में सर्वत्र वाऽसरूपविधि के मानने से 'हसितं, हसनं वा छात्रस्य शोभनम्' यहां क्त और ल्युट् के विषय में 'घञ्'; 'इच्छति भोक्तुम्' यहां लिङ्, लोट्; और 'ईषत्पानः सोमो भवता' यहां 'खल्' असरूप उत्सर्ग होने से प्राप्त हैं। इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

५९–क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति॥ अ० ३।१।९४॥

क्त, ल्युट्, तुमुन् और खलर्थ प्रत्ययों के विषय में असरूप उत्सर्ग प्रत्यय अपवाद-पक्ष में नहीं होते।

इस से 'हसितम्; हसनम्' आदि प्रयोगों के विषय में 'घञ्' आदि उत्सर्ग प्रत्यय नहीं होते।

(अर्हे कृत्यतृचश्च) इस सूत्र में कृत्य और तृच् प्रत्यय नहीं कहते, तो अर्ह अर्थ में कहे हुए लिङ् के साथ असारूप्य होने से अर्ह अर्थ में कृत्य और तृच् हो ही जाते। फिर कृत्य और तृच् ग्रहण व्यर्थ होकर यह जनाते हैं कि (वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्) यह परिभाषा अनित्य है॥ ५९॥

(हशश्वतोर्लङ् च) इस सूत्र में 'लङ्' ग्रहण नहीं करते, तो भूतानद्यतनपरोक्षकाल में विहित 'लिट्' के साथ असरूप लङ् का समावेश होही जाता। फिर लङ् व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक होता है—

६०–लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्न भवति॥ अ० ३।१।९४॥

लकारार्थ विधान में वाऽसरूपविधि नहीं होती।

इस से लङ् लकार का ग्रहण सार्थक हुआ। और (लटः शतृशानचा०) यहां विकल्प की अनुवृत्ति इसलिये करते हैं कि जिस से तिङ् का भी पक्ष में समावेश हो जावे। जो 'वाऽसरूपविधि' हो जाती तो तिङ् समावेश के लिये विकल्प नहीं लाना पड़ता। इत्यादि अनेक प्रयोजन इस परिभाषा के समझने चाहियें॥ ६०॥

अब (तस्मिन्निति०; तस्मादित्युत्तरस्य) इन सूत्रों से सप्तमीनिर्दिष्ट कार्य अव्यवहित पूर्व को और पंचमीनिर्दिष्ट उत्तर को होता है। सो (इको यणचि) यहां सप्तमीनिर्दिष्ट पूर्व को, और (द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्) 'द्वीपम्' यहां पंचमीनिर्दिष्ट उत्तर को होता है। परन्तु जहां पंचमी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का निर्देश हो, वहां किसको कार्य होना चाहिये? इस संदेह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

६१–उभयनिर्देशे विप्रतिषेधात् पंचमीनिर्देशः॥ अ० १।१।६६॥

जहां सप्तमी पंचमी दोनों विभक्तियों से निर्देश किया है, वहां (तस्मिन्निति०; तस्मादित्यु०) इन दोनों सूत्रों में परविप्रतिषेध मान के पंचमीनिर्दिष्ट का कार्य होना चाहिये।

जैसे (बहोर्लोपो भू च बहोः) यहां बहु शब्द पंचमीनिर्दिष्ट और इष्ठन्; इमनिच्; ईयसुन् सप्तमीनिर्दिष्ट हैं। यहां बहु से परे इष्ठन् आदि को वा इष्ठन् आदि के परे ब

शब्द को कार्य होवे। इस सन्देह की निवृत्ति इस परिभाषा से हुई कि पंचमीनिर्दिष्ट को कार्य होना चाहिये, अर्थात् बहु से परे इष्ठन् आदि को कार्य होवे। सो पर को विहित कार्य अर्थात् ईयसुन् के आदि का लोप हो जाता है, भूयान्; भूमा।

तथा (ङमो ह्रस्वादचि ङमुण् नित्यम्) यहां ङम् से परे अच् को वा अच् परे हो तो ङम् को कार्य हो, यह सन्देह है। सो ह्रस्व से परे जो ङम्, उस से परे अच् को कार्य होता है, तिङ्ङतिङः; कुर्वन्नास्ते। इत्यादि बहुत सन्देह निवृत्त हो जाते हैं ॥६१॥

इस व्याकरणशास्त्र में (स्वं रूपं शब्दस्या०) इस परिभाषासूत्र के अनुकूल 'पयस्कुम्भी; पयस्पात्री' इत्यादि प्रयोगों में विसर्जनीय को सकारादेश न होना चाहिये। क्योंकि कुम्भ और पात्र आदि शब्दों के परे कहा है। उन के स्वरूप ग्रहण होने से स्त्रीलिङ्ग में नहीं हो सकता। इसलिये यह परिभाषा है—

६२–प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणं भवति ॥ अ० ४। १। १॥

प्रातिपदिक के परे वा प्रातिपदिक को जहां कार्य कहा हो, वहां पठित लिङ्ग से विशेष लिङ्ग का भी ग्रहण होना चाहिये।

इस से 'पयस्कुम्भी' आदि प्रयोग भी सिद्ध हो जाते हैं।

जैसे सर्वनाम को सुट् कहा है, सो 'येषाम्; तेषाम्' यहां तो होता ही है, 'यासां; तासां' यहां भी हो जावे।

जैसे 'कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः' यहां समास होता है, वैसे 'कष्टं श्रिता=कष्टश्रिता' यहां भी हो जावे।

जैसे 'हस्तिनां समूहो=हास्तिकम्' यहां ठक् होता है, वैसे 'हस्तिनीनां समूहो=हांस्तिकम्' यहां भी हो जावे।

जैसे 'ग्रामेवासी' यहां सप्तमी का अलुक् होता है, वैसे 'ग्रामेवासिनी' यहां भी हो जावे, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६२ ॥

जब प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्गविशिष्ट का भी ग्रहण होता है, तो जैसे 'यूनः पश्य' यहां युवन् शब्द को सम्प्रसारण होता है, वैसे 'युवतीः पश्य' यहां स्त्रीलिङ्ग में भी होना चाहिये। इत्यादि सन्देहों की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा हैः—

६३–विभक्तौ लिङ्गविशिष्टग्रहणं न ॥ अ० ७। १। १॥

विभक्ति के आश्रय कार्य करने में पठितलिंग से अन्य लिंग का ग्रहण नहीं होता।

इस से भसंज्ञाश्रय सम्प्रसारण 'युवति' शब्द को नहीं होता।

तथा जैसे 'गोमान्; यवमान्' यहां नुम् और दीर्घ होते हैं, वैसे 'गोमती; यवमती' यहां होवे। सो सर्वनामस्थ विभक्त्याश्रित कार्य होने से नहीं होता।

जैसे 'सखा; सखायौ' यहां सखि शब्द को आकारादेश होता है, वैसे 'सखी; सख्यौ; सख्यः' यहां स्त्रीलिङ्ग में विभक्त्याश्रित आकार नहीं होता। इत्यादि इस परिभाषा के भी बहुत प्रयोजन हैं॥ ६३॥

(तस्यापत्यम्) इस सूत्र में 'तस्य' यह पुल्लिङ्ग षष्ठी का एकवचन और अपत्य शब्द नपुंसकलिंग प्रथमैकवचन निर्देश किया है, तो 'कन्याया अपत्यं=कानीनः' यहां स्त्रीलिंग शब्द से 'कानीन' शब्द नहीं सिद्ध होना चाहिये। और 'द्वयोर्मात्रोरपत्यं=द्वैमातुरः' यहां द्विवचन से प्रत्ययोत्पत्ति भी नहीं होनी चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

६४—सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम्॥ अ० ४। १। ६२॥

जो सूत्र में लिंग और वचन पढ़े हैं, वे कार्य करने में प्रधान नहीं होते। अर्थात् जहां स्त्रीलिंग, पुल्लिंग वा नपुंसकलिंग से तथा एकवचन, द्विवचन, बहुवचन से निर्देश किये जावें, वहां उसी पठितलिंग वा वचन से कार्य्य लिया जाय, यह नियम नहीं समझना चाहिये, किन्तु एक किसी लिंग वा वचन से शब्द पढ़ा हो, तो सभी लिंग वचनों से कार्य्य हो सकते हैं।

इस से 'कानीनः; द्वैमातुरः' इत्यादि शब्द सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन इस परिभाषा से सिद्ध होते हैं॥ ६४॥

अब अच्व्यन्त 'भृशादि' प्रातिपदिकों से जो भू धातु के अर्थ में 'क्यङ्' प्रत्यय होता है, वह 'क दिवा भृशा भवन्ति' यहां भी भृश शब्द से होना चाहिये। इत्यादि सन्देहों की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

६५—नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथा ह्यर्थगतिः॥ अ० ३। १। १२॥

वाक्य में जो नञ्युक्त पद है, उस के समान जो वाक्य में युक्त और उस नञ्युक्त पदार्थ के सदृश धर्मवाला हो, उस में कार्य्यविधान होना चाहिये।

ऐसा ही अर्थ लोक में प्रतीत होता है, अर्थात् वाक्य में जिस पदार्थ को जिस क्रिया का निषेध होवे, उस पदार्थ के तुल्य धर्मवाले को उसी क्रिया का विधान कर लेना चाहिये। जैसे लोक में किसी ने कहा कि 'अब्राह्मणमानय' ब्राह्मण से भिन्न को

लेआ, तो ब्राह्मण से भिन्न क्षत्रियादि किसी मनुष्य को ले आता है। क्योंकि ब्राह्मण के तुल्य धर्मवाला मनुष्य ही होता है, किन्तु यह नहीं होता कि ब्राह्मण से इतर को मंगवाने में मट्टी वा पत्थर आदि किसी पदार्थ को लेआ के अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेवे।

इसी प्रकार शास्त्रों में भी जिस का निषेध किया हो, उसके सदृश दूसरे का विधान करना चाहिये। यहां जो च्विप्रत्ययान्त से अन्य 'भृशादि' शब्दों से 'क्यङ्' प्रत्यय विधान किया है, वह च्विप्रत्ययान्त के तुल्य अर्थ वाले भृशादिकों से 'क्यङ्' होना चाहिये। च्वि प्रत्यय का अर्थ अभूततद्भाव है, उसी अर्थ में 'क्यङ्' होता है, 'अभृशो भृशो भवति=भृशायते' इत्यादि। 'क दिवा भृशा भवन्ति' यहां अभूततद्भाव के न होने से 'क्यङ्' नहीं होता।

तथा 'दधिच्छादयति; मधुच्छादयति' इत्यादि प्रयोगों में 'तुक्' आगम को अभक्त मानें कि न पूर्वान्त और न परादि दोनों से पृथक् है, तो अतिङ् से परे तिङ् पद को निघात होजावे। सो 'तुक्' तिङ् से भिन्न तिङ् के तुल्य धर्मवाला पद नहीं है; इस से निघात नहीं पावेगा। और निघात होना इष्ट है, इसलिये 'तुक्' को अभक्त नहीं करना, किन्तु पूर्वान्त ही करना चाहिये। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ६५॥

(उपपदमतिङ्) इस सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि तिङन्त उपपद का समास न होवे। सो जो 'सुप्; सुपा' इन दोनों की अनुवृत्ति चली आती है, तब तो तिङ् उपपद का समास प्राप्त ही नहीं, फिर निषेधार्थ करना व्यर्थ हुआ। इसलिये ऐसा ज्ञापक होना चाहिये कि असुबन्त के साथ असुबन्त का भी समास होता है, तब तो अतिङ्ग्रहण सार्थक होता है। इसलिये यह परिभाषा है—

६६–गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः॥ अ० ४। १। ४८॥

गति, कारक और उपपद इन का कृदन्त के साथ सु आदि की उत्पत्ति से पहिले ही समास हो जाता है।

यहां केवल सुप्रहित कृदन्त के साथ समास हुआ, तो 'अतिङ्' ग्रहण सार्थक होने से स्वार्थ में चरितार्थ हो गया।

और अन्यत्र फल यह है कि गति—'सांकूटिनम्' यहां जो तद्धितोत्पत्ति से पहिले सम् और कूटिन् सुबन्तों का समास करके पीछे तद्धित उत्पन्न किया चाहें, तो तद्धितोत्पत्ति की विवक्षा में कूटिन् शब्द की पृथक् पदसंज्ञा रहने से सम् शब्द को वृद्धि नहीं हो सकती। और जब सुप्रहित केवल कूटिन् कृदन्त के साथ समास होता है, तब समास समुदाय की एक पदसंज्ञा होकर तद्धितोत्पत्ति होने से 'सम्' को वृद्धि हो जाती है।

कारक—'या वस्त्रेण क्रीयते सा वस्त्रक्रीती; अश्वक्रीती' इत्यादि शब्दों में केवल 'क्रीत' कृदन्त के साथ 'वस्त्र' आदि शब्दों का समास होकर करणपूर्व क्रीतान्त प्रातिपदिक से 'ङीष्' प्रत्यय हो जाता है। और जो सुबन्त के साथ ही समास नियम रहे, तो समास की विवक्षा में ही अन्तरङ्ग होने से अकारान्त क्रीत शब्द से टाप् हो जावे। पुनः आकारान्त हो जाने से अकारान्त से विहित ङीष् प्रत्यय नहीं होवे, तो 'वस्त्रक्रीती' आदि प्रयोग भी सिद्ध न हो सकें।

उपपद—'माषवापिणी; व्रीहिवापिणी' यहां प्रातिपदिकान्त नकार को 'णत्व' होता है। सो जो सुबन्तों का ही समास करें, तो समास की विवक्षा में ही नकारान्त 'वापिन्' शब्द से 'ङीप्' होकर पीछे समास हो, तब उस ङीबन्त 'माषवापिनी' समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा होवे, तो प्रातिपदिकान्त ईकार के होने से फिर णत्व नहीं हो सके। और जब केवल कृदन्त 'वापिन्' शब्द के साथ समास होता है, तब केवल 'माषवापिन्' नकारान्त शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर ङीप् होता है, तो प्रातिपदिकान्त नकार को णत्व हो जाता है, इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६६ ॥

(उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः) इस सूत्र में उगित् धातु के निषेध का यही प्रयोजन है कि 'उखास्रत्; पर्णध्वत्' इत्यादि में 'नुम्' आगम न हो। सो यह प्रयोजन तो 'अञ्चु' धातु के ग्रहण से निकल जाता कि उगित् धातु को नुम् आगम् हो, तो अञ्चु ही को हो। इस नियम से अन्य उगित् धातु को नुम् होता ही नहीं, फिर अधातु ग्रहण व्यर्थ हुआ। इसके व्यर्थ होनेरूप ज्ञापक से यह परिभाषा निकली है—

६७—साम्प्रतिकाऽभावे भूतपूर्वगतिः ॥

जो पदार्थ वर्तमान काल में अपनी प्रथमावस्था से पृथक् हो गया हो, तो उसी पूर्वावस्था के सम्बन्ध से उस को वर्तमान में भी कार्य हों।

जैसे 'गोमन्तमिच्छति=गोमत्यति, गोमत्यतेः क्विप्=गोमान्' यहां प्रथम तो 'गोमान्' प्रातिपदिक है। पीछे उस से क्यच् हुआ, तो धातुसंज्ञा हुई। फिर क्यच्प्रत्ययान्त से क्विप् होने से धातुसंज्ञा उसकी बनी रही। सो पूर्व रही प्रातिपदिकसंज्ञा के स्मरण से पीछे धातुसंज्ञा के बने रहते भी 'नुम्' होता है, अर्थात् अधातुनिषेध नहीं लगता। इससे अधातु निषेध भी सार्थक रहा।

तथा 'आत्मनः कुमारीमिच्छति=कुमारीयति, कुमारीयतेः कर्त्तरि क्विप्=कुमारी ब्राह्मणः, तस्मै कुमार्यै * ब्राह्मणाय' यहां 'कुमारी' शब्द प्रथमावस्था में स्त्रीलिङ्ग ईकारान्त

* यहां भूतपूर्वगति परिभाषा के मानने से कार्य भी चलजाता, तथा अन्यत्र भी सब काम चलता है, फिर 'कुमार्यै ब्राह्मणाय' इत्यादि प्रयोगसिद्धि के लिये नदीसंज्ञा में (प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च) इस वार्त्तिक का भी कुछ प्रयोजन नहीं रहा। क्योंकि इस परिभाषा के होने से सब काम निकल जाते हैं। वार्त्तिक एकदेशी और परिभाषा सर्वदेशी है ॥

है, तब तो स्त्र्याख्य ईकारान्त नदीसंज्ञा सिद्ध है। पीछे जब पुलिङ्गवाची हो गया, तब भी पूर्वावस्था के भूतपूर्व स्त्रीत्व को लेकर नदीसंज्ञा होके नदीसंज्ञा के कार्य भी होते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ६७॥

बहुव्रीहि समास में अन्य पदार्थ प्रधान होता है, अर्थात् जिन दो वा अधिक पदों का समास किया जावे, उन पदों से पृथक् पद वाच्य अन्य पदार्थ कहाता है। जैसे 'चित्रा गावो यस्य स चित्रगुः; शवलगुः' यहां गौओं का विशेषण चित्रगुण और गौ इन दोनों पदों से भिन्न इन का स्वामी 'चित्रगु' कहाता है। इसी प्रकार 'सर्व आदिर्येषां तानि सर्वादीनि' यहां सर्व और आदि दोनों शब्द से पृथक् अन्य पदार्थ लिया जावे, तो सर्व शब्द की सर्वनाम संज्ञा नहीं हो सके। इसलिये यह परिभाषा है—

६८—भवति हि बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि* ॥ अ० १। १। २७॥

बहुव्रीहि दो प्रकार का होता है—एक तद्गुणसंविज्ञान, और दूसरा अतद्गुणसंविज्ञान। 'तद्गुणसंविज्ञान' उस को कहते हैं कि जहां उस अन्य पदार्थ के साथ उसके निज गुणों का समवायसम्बन्ध हो। जैसे 'लम्बकर्णः; तुङ्गनासिकः; दीर्घबाहुः; क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः' इत्यादि में अन्य पदार्थ का बोध कान आदि के सहित होता है।

'अतद्गुणसंविज्ञान' वह है कि जिन पदों का समास किया जावे, उन से अन्य पदार्थ का पृथक् सम्बन्ध बना रहे, कि जैसे 'चित्रगु' शब्द में दिखा दिया है।

इस से 'सर्वादि' में भी तद्गुणसंविज्ञान मान के सर्व शब्द को भी सर्वनामसंज्ञा हो जाती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिये॥ ६८॥

जहां समास को अन्तोदात्त स्वर कहा है, वहां 'ब्राह्मणसमित; राजदषत्' इत्यादि प्रयोगों के अन्त में तकार है, तो विधानसामर्थ्य से उस व्यञ्जन को ही उदात्त हो जाना चाहिये। इत्यादि सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

६९—हल्स्वरप्राप्तौ व्यंजनमविद्यमानवद्भवति × ॥ अ० ६। १। २२३॥

---

* इस परिभाषा के आगे नागेश ने (चानुकृष्टं नोत्तरत्र) यह परिभाषा लिखी है। सो ठीक नहीं, क्योंकि उसका मूल कहीं महाभाष्य से वा सूत्रों से नहीं निकलता। और न कोई उदाहरण मुख्य प्रयोजन का दिया॥

× इस परिभाषा को नागेश भट्ट तथा अन्य लोग भी महाभाष्य से विरुद्ध लिखते पढ़ते हैं कि (स्वरविधौ व्यंजनमविद्यमानवत्)। ऐसा पाठ करने में महाभाष्यकार ने ये दोष भी दिखाये हैं कि उदात्तादि स्वरों के विधानमात्र में जो व्यञ्जन अविद्यमानवत् माना जावे तो, 'विद्युत्वान् वलाहकः' यहां विद्युत् के तकार को अविद्यमान मानें, तो ह्रस्व से परे मतुप् को उदात्त स्वर (ह्रस्वनुड्भ्यां०) सूत्र से प्राप्त

व्यञ्जन को उदात्तादि स्वर प्राप्त हो, तो वह व्यञ्जन अविद्यमानवत् होता है।

इससे 'ब्राह्मणसमित्' आदि प्रयोगों में अन्त्य तकार को अविद्यमानवत् मानके इकार को उदात्त हो जाता है।

इस का ज्ञापक (यतोऽनावः) इस सूत्र में यत्प्रत्ययान्त द्व्यच् प्रातिपदिक को आद्युदात्त कहा है। और 'नौ' शब्द का निषेध इसीलिये है कि 'नाव्यम्' यहां आद्युदात्त न हो। सो जब आदि में नकार है, तब स्वर के होने से आद्युदात्त प्राप्त ही नहीं, फिर निषेध करने से यही प्रयोजन है कि उस नकार को भी स्वर प्राप्त होता है। सो अविद्यमानवत् मान के आकार को होजाता, इसलिये निषेध किया।

तथा अनुदात्तादि वा अन्तोदात्त से परे जो कार्य कहे हैं, उन में जहां आदि और अन्त में व्यञ्जन हैं, वहां उन कार्यों की प्राप्ति नहीं होगी। वहां भी अविद्यमानवत् मान कर काम चल जाता है।

और जो कदाचित् ऐसा मान लिया जावे कि उदात्तादि गुण व्यंजनों के ही हैं, उन के संयोग से अचों के भी धर्म समझे जाते हैं, सो नहीं बन सकता। क्योंकि व्यंजन के विना भी केवल अचों में उदात्तादि धर्म प्रसिद्ध हैं। और अच् के विना व्यंजन का उच्चारण होना भी कठिन है। इसलिये उदात्तादि गुण स्वतंत्र व्यंजनों के नहीं हो सकते। परन्तु यह बात तो माननी चाहिये कि अच् के संयोग से व्यंजन को भी उदात्तादि गुण प्राप्त हो जाते हैं। जैसे दो रङ्गे वस्त्रों के बीच एक श्वेत वस्त्र हो तो वह भी कुछ रङ्गित प्रतीत होता है॥ ६९॥

(वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ) इस सूत्र में ड्यत् और ड्य प्रत्यय 'डित्' इसलिये पढ़े हैं कि डित् के परे वामदेव शब्द के टि भाग का लोप हो जावे। सो (यस्येति च) सूत्र से तद्धित के परे भसंज्ञक अवर्ण का लोप हो ही जाता, फिर डित्करण व्यर्थ होकर इन परिभाषाओं के निकलने में ज्ञापक है—

७०—अननुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ग्रहणम्॥

७१—तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ग्रहणम्॥ अ० ४। २। ९॥

अनुबन्धरहित प्रयोगों के ग्रहण में अनुबन्धसहितों का ग्रहण नहीं हो सकता।

अर्थात् जहां यत् प्रत्यय डकार अनुबन्ध से रहित पढ़ा है, और ड्यत् में डकार की इत्संज्ञा होकर यत् ही रह जाता है, जहां यत् और य प्रत्यय का ग्रहण किया है

है'''इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। और (हल्स्वरप्राप्तौ०) इस प्रकार की परिभाषा में कोई दोष नहीं आता। इसलिये नागेश आदि का मानना ठीक नहीं है॥

वहां ञ्यत्, ञ्य प्रत्यय का ग्रहण न हो। और जिस अनुबन्ध से जो प्रत्यय पढ़ा है, उस में द्वितीय अनुबन्ध के सहित प्रत्यय का ग्रहण न हो। अर्थात् यत् कहने से ण्यत्, अङ् कहने से चङ्, और अच् कहने से णच् का ग्रहण न हो।

इस से यह आया कि (ययतोश्चातदर्थे) इस स्वरविधायक सूत्र में नञ् से परे य, यत् प्रत्ययान्त को अन्तोदात्त स्वर होता है। सो जो ञ्यत्, ञ्य का भी ग्रहण होवे, तो 'अवामदेव्यम्' यहां भी अन्तोदात्त स्वर हो जावे। और पूर्वपदप्रकृतिस्वर इष्ट है, इसलिये ङित्ग्रहण का सार्थक होना स्वार्थ में चरितार्थ।

और अङ् के परे जो गुण आदि कार्य कहा है, सो चङ् के परे नहीं होता, और चङ् के परे जो द्वित्वादि कार्य कहा है, सो अङ् के परे नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ७०—७१॥

(णचः स्त्रियामञ्) यहां णच्प्रत्ययान्त से स्वार्थ में 'अञ्' प्रत्यय कहा है। सो (कर्म्मव्यतिहारे णच् स्त्रियाम्) इस सूत्र से णच् प्रत्यय का तो स्त्रीलिंग में ही विधान है, फिर स्वार्थ में णच्प्रत्ययान्त से 'अञ्' कहने से स्त्रीलिंग ही हो जाता। क्योंकि स्वार्थिक प्रत्ययों के होने में प्रकृति के लिङ्ग और वचन की अनुवृत्ति होती है, फिर स्त्रीग्रहण व्यर्थ हुआ। इसलिये यह परिभाषा है—

७२–क्वचित्स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते॥ अ० ५। ३। ६८॥

कहीं २ स्वार्थिक प्रत्यय भी प्रकृति के लिङ्ग वचनों को छोड़ देते हैं।

जब प्रकृति के लिङ्ग वचन स्वार्थप्रत्ययोत्पत्ति में सर्वत्र नहीं बने रहते, तो (णचः स्त्रियामञ्) सूत्र में स्त्रीग्रहण सार्थक हो गया।

तथा 'अप्कल्पम्' यहां नियत स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त 'अप्' शब्द से 'कल्पप्' प्रत्यय स्वार्थ में हुआ है, सो अपने लिङ्ग वचन छोड़ के नपुंसकलिङ्ग एकवचन रह जाता है।

तथा 'गुडकल्पा द्राक्षा; पयस्कल्पा यवागूः' यहां 'गुड' पुल्लिङ्ग और 'पयः' नपुंसकलिंग से 'कल्पप्' प्रत्यय होकर स्त्रीलिङ्ग हो जाता है।

और क्वचित् कहने से यह प्रयोजन है कि 'बहुगुडो द्राक्षा; बहुपयो यवागूः' इत्यादि में प्रकृति के अनुकूल ही लिङ्ग वचन रहते हैं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥७२॥

(प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे) इस सूत्र के अंश्वादिगण में 'राजन्' शब्द पढ़ा है, तो उस का यही प्रयोजन है कि प्रति से परे तत्पुरुष समास में 'राजन्' शब्द अन्तोदात्त होजावे। सो जब प्रतिपूर्वक राजन् शब्द से तत्पुरुष समास में समासान्त 'टच्' प्रत्यय प्राप्त है, तब तो चित् होने से अन्तोदात्त हो ही जाता, फिर राजन् शब्द का पाठ व्यर्थ हुआ। इसलिये यह परिभाषा है—

७३–विभाषा समासान्तो भवति ❀ ॥ अ० ६ । २ । १९७ ॥

समासान्त सब प्रत्यय विकल्प करके होते हैं।

तो प्रतिपूर्वक 'राजन्' शब्द से जिस पक्ष में समासान्त 'टच्' न हुआ वहां 'प्रतिराजा' में भी अन्तोदात्त होजावे। इसलिये 'राजन्' शब्द का अंश्वादिगण में पढ़ना सार्थक हो गया।

तथा (द्वित्रिभ्यां पाद्न्) इस सूत्र से भी बहुव्रीहिसमास में द्वित्रिपूर्वक मूर्द्ध शब्द को अन्तोदात्त स्वर कहा है, सो यहां भी द्वित्रिपूर्वक मूर्द्ध से जब समासान्त ष प्रत्ययविधान है, तो प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त सिद्ध ही है। फिर 'मूर्द्धन्' शब्द का ग्रहण इसीलिये है कि समासान्त प्रत्यय विकल्प होते हैं। सो जिस पक्ष में समासान्त नहीं होता 'द्विमूर्द्धा; त्रिमूर्द्धा' यहां भी अन्तोदात्त स्वर हो जावे। इत्यादि प्रयोजनों के लिये यह परिभाषा है ॥ ७३ ॥

'शतानि; सहस्राणि' यहां जब सर्वनामस्थान शि को मान के नुम् आगम होता है, तब 'शतन्; सहस्रन्' शब्दों के नकारान्त हो जाने से (ष्णान्ता षट्) सूत्र से षट्संज्ञा होजावे, तो (षड्भ्यो लुक्) सूत्र से शि का लुक् होना चाहिये। इत्यादि समाधान के लिये यह परिभाषा है—

७४–सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य ॥ अ० १ । १ । ३९ ॥

जो एक के आश्रय से दूसरे का सम्बन्ध होता है, वह 'सन्निपात' कहाता है। उसी सन्निपातसम्बन्ध का जो निमित्त हो, ऐसा जो विधि कार्य है, वह उस अपने निमित्त के बिगाड़ने को अनिमित्त अर्थात् असमर्थ होता है।

यहां 'शत; सहस्र' शब्द से जस् आकर शि आदेश हुआ। अब शि के आश्रय से शत शब्द को नुम् होकर शत नान्त हुआ। अब जिसके आश्रय से शत को नान्तत्व गुण मिला, उस नान्तगुण से उसी का विघात करे, यह ठीक नहीं। इस से 'शतानि; सहस्राणि' आदि में शि का लुक् नहीं होता।

❀ इस परिभाषा को नागेश भट्ट ने (समासान्तविधिरनित्यः) ऐसा लिखा है, सो महाभाष्य से विरुद्ध है। क्योंकि अनित्य और विभाषा में बहुत भेद है। अनित्य उसको कहते हैं कि जो कभी हो और कभी न हो, और विकल्प के दो पक्ष सदा बने रहते हैं। और इस परिभाषा की भूमिका में 'सुपथी नगरी' यह महाभाष्य का उदाहरण करके रक्खा है, कि 'पथिन्' शब्द से (इनः स्त्रियाम्) सूत्र से समासान्त कप् नहीं हुआ, तो समासान्त अनित्य हैं। सो यह नहीं विचारा कि (न पूजनात्) सूत्र से 'सुपथी नगरी' आदि सब में पूजनवाची समास से समासान्त का निषेध सिद्ध है, जब कप् प्राप्ति ही नहीं, तो समासान्तविधि के अनित्य होने में 'सुपथी नगरी' यह प्रयोग कब समर्थ हो सकता है! देखो व्याकरण में नागेश की कितनी बड़ी भूल है ॥

तथा 'इयेष; उवोष' यहां णल् प्रत्यय के आश्रय से इष, उष धातु को गुण होता है। गुण होने से इजादि मान कर 'आम्' प्राप्त है, और आम् के होजाने से उस से परे लुक् कहा है, तो उसी णल् का विघात हो कि जिस के आश्रय से 'इष; उष' इजादि हुए हैं। इत्यादि इसके अनेक प्रयोजन हैं।

और लोक के साथ भी इस परिभाषा का संबन्ध है कि जो पुरुष जिस धनाढ्य के धन से स्वयं धनवान् हुआ हो, वह उसी धन से धनाढ्य का विघात करे, यह बहुत विरुद्ध है, अर्थात् ऐसा कभी न होना चाहिये, कि जिस के संग से जो सामर्थ्य प्राप्त हो, उस सामर्थ्य से उसी को नष्ट करे ॥ ७४ ॥

'पञ्चेन्द्राण्यो देवता अस्य स पञ्चेन्द्रः स्थालीपाकः' 'पञ्चेन्द्राणी' शब्द से देवता अर्थ में विहित 'अण्' प्रत्यय का (द्विगोर्लुगनपत्ये) सूत्र से लुक् होकर (लुक् तद्धितलुकि) सूत्र से ईकार स्त्रीप्रत्यय का भी लुक हो जाता है। तब 'ङीष्' के संयोग से आया जो 'आनुक्' आगम उस का लुक्विधान किसी सूत्र से नहीं किया, सो उस 'आनुक्' का श्रवण हो, तो 'पञ्चेन्द्रः' आदि शब्द सिद्ध नहीं हो सकें। इसलिये यह परिभाषा है--

७५-संनियोगशिष्टानामन्यतराऽभावे उभयोरप्यभावः ॥

अ० ६ । ४ । १५३ ॥

जिस कार्य के होने में एक साथ दो का नियम हुआ हो, उन में से जब एकका अभाव हो जावे, तब दूसरे का अपने आप अभाव हो जाता है।

जैसा — किसी कार्य्य का नियम है कि देवदत्त यज्ञदत्त दोनों मिल के इस काम को करें, सो जो देवदत्त न रहे तो यज्ञदत्त उस कार्य से स्वयं निवृत्त होजाता है। इसी प्रकार यहां भी 'इन्द्र' शब्द से स्त्रीत्व रूप कार्य की विवक्षा को 'ङीष्' और 'आनुक्' दोनों पूरी करते हैं। सो जब 'ङीष्' का अभाव होता है, तब 'आनुक्' भी वहां से निवृत्त हो जाता है।

तथा 'पञ्चाग्नाय्यो देवता अस्य स पञ्चाग्निः' यहां स्त्रीप्रत्यय के लुक् होने के पश्चात् 'ऐकार' आगम की भी निवृत्ति होजाती है।

इस परिभाषा का ज्ञापक यह है कि (विल्वकादिभ्यश्छस्य लुक्) इस सूत्र में विल्वकादि से परे 'छ' प्रत्यय का लुक् कहा है। और उसी 'छ' प्रत्यय के संयोग से विल्वादि शब्दों को 'कुक्' होता है। सो विल्वादि शब्दों से छ का लुक् कह देते, तो कुक् आगम की भी निवृत्ति हो जाती। इसलिये विल्वादि शब्दों को 'कुक्' आगम के सहित पढ़ उन से परे 'छ' प्रत्ययमात्र का लुक् कहा है। इस से सिद्ध हुआ कि आगमी की निवृत्ति में आगम की निवृत्ति होजाती है। तब कृत कुगागम विल्वकादि से छ प्रत्यय का लुक् कहा है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७५ ॥

(तदनुबन्धकग्रहणे०) इस पूर्वलिखित परिभाषा के अनुकूल 'अण्' प्रत्यय के आश्रय कार्य है, वह ण प्रत्यय को मान के न होना चाहिये, तो (कार्मस्ताच्छील्ये) इस सूत्र का यही प्रयोजन है कि ताच्छील्य अर्थ में 'ण' प्रत्यय परे हो तो 'कर्मन्' शब्द के टि भाग का लोप हो, सो (नस्तद्धिते) सूत्र से नान्त भ संज्ञक अङ्ग के टि का लोप सिद्ध ही है। तो ताच्छील्य अर्थ में 'कार्मः' प्रयोग बन ही जाता। फिर यह सूत्र व्यर्थ होकर इस परिभाषा का ज्ञापक है--

७६-ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति॥ अ० ६। ४। १७२॥

तच्छील अर्थ में विहित 'ण' प्रत्यय के परे 'अण्' प्रत्ययाश्रित कार्य भी होते हैं।

इस से यह आया कि (अन्) सूत्र से 'अण्' प्रत्यय के परे अन्नन्त को प्रकृतिभाव कहा है, सो ताच्छील्य अर्थ में 'ण' प्रत्यय के परे अन्नन्त कर्मन् शब्द को भी प्राप्त था। इसलिये (कार्मस्ताच्छील्ये) सूत्र में टिलोप निपातन सार्थक होगया, यह स्वार्थ में चरितार्थ है।

अन्यत्र फल यह है कि 'चुरा शीलमस्याः सा चौरी; तपः शीलमस्याः सा तापसी' इत्यादि प्रयोगों में ताच्छीलिक 'ण' प्रत्ययान्त से (टिड्ढाणञ्०) सूत्र में अणन्त से कहा 'ङीप्' हो जाता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ७६॥

(दाण्डिनाय०) इस सूत्र में 'भ्रौणहत्य' शब्द निपातन किया है। उस से यही प्रयोजन है कि 'भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहत्यम्' यहां निपातन से तकारादेश होजावे। सो जो (हनस्तोऽचिण्णलोः) सूत्र से 'ष्यञ्' प्रत्यय के परे हन् के नकार को तकारादेश होजाता, तो फिर निपातन करना व्यर्थ है। इसलिये यह परिभाषा है--

७७-धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति॥ अ० ७। २। ११४॥

जो धातु को कार्य कहा है, वह उसी धातु से विहित प्रत्यय के परे हो, अर्थात् धातु को कार्य प्रातिपदिक से विहित तद्धित के परे न हो।

इस से 'हन्' धातु को कहा तकारादेश 'भ्रौणहत्य' में प्रातिपदिक से विहित तद्धित 'ष्यञ्' के परे नहीं हो सकता। इसलिये 'भ्रौणहत्य' में तकारादेश निपातन करना सार्थक हुआ।

और अन्यत्र फल यह है कि 'भ्रौणघ्नः' यहां 'अण्' प्रत्यय के परे तकारादेश नहीं होता।

तथा 'कंसपरिमृड्भ्याम्' यहां प्रातिपदिक से विहित विभक्ति के परे 'मृज्' धातु को कही वृद्धि नहीं होती।

'रज्जुसृड्भ्याम्; देवदृग्भ्याम्' यहां झलादि अकित् विभक्ति के परे 'सृज्' धातु को 'अम्' आगम नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ७७॥

'सर्वके; विश्वके; उच्चकैः; नीचकैः' यहां सर्वनाम और अव्ययसंज्ञा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि सर्वादि में सर्व विश्व शब्द और अव्ययों में उच्चैस्, नीचैस् शब्द पढ़े हैं। सो जब शब्द के स्वरूप का ग्रहण होता है, तो उक्त शब्दों की सर्वनाम और अव्ययसंज्ञा कैसे होगी? और संज्ञा के विना सर्वनाम और अव्यय के कार्य भी नहीं हो सकते। इसलिये यह परिभाषा है—

७८—तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते ॥ अ० १ । १ । ७२ ॥

किसी के एकदेश में कोई अन्य आजावे, तो वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया जाता है।

इस से यहां सर्व आदि शब्दों के मध्य में 'अकच्' प्रत्यय आगया, वह उसी के ग्रहण से ग्रहण किया गया, तो 'सर्वनामसंज्ञा' हो गई।

इसी प्रकार 'उच्चकैः' आदि में 'अव्ययसंज्ञा' होना जानो।

तथा 'अहं पठामकि' यहां अतिङ् से परे तिङ्पद 'अनुदात्त' भी हो जाता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७८ ॥

(गातिस्थाघुपा०) इस सूत्र में 'गाति' निर्देश से तो अदादि के 'इण्' धातु का ग्रहण होना ठीक है। परन्तु 'पा' धातु के ग्रहण में संदेह है कि अलुक्विकरण भ्वादि और लुक् विकरण अदादि इन दोनों में से किस का ग्रहण किया जावे? सो जो अदादि के 'पा' धातु का भी ग्रहण हो तो 'अपासीद्वनम्' यहां भी सिच् का लुक् हो जाना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

७९—लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव ग्रहणम् ॥ अ० ७ । २ । ४४ ॥

लुग्विकरण और अलुग्विकरण के ग्रहण में जहां संदेह पड़े, वहां अलुग्विकरण का ही ग्रहण होना चाहिये।

इस से उक्त (गातिस्था०) सूत्र में 'पा पाने' अलुग्विकरण धातु का ग्रहण हो जाता है, और लुग्विकरण 'पा रक्षणे' का ग्रहण नहीं होता।

इस का ज्ञापक यह है कि (स्वरतिसूतिसूयति०) इस सूत्र में 'सूति; सूयति' दोनों के स्थान में 'सूङ्' पढ़ते, तो इन्हीं दोनों का ग्रहण हो जाता। क्योंकि ये ही दोनों सूङ् हैं, तीसरा नहीं। परन्तु सूति लुग्विकरण अदादि और सूयति अलुग्विकरण दिवादि का है। इससे यही आया कि सामान्य 'सूङ्' के पढ़ने से अलुग्विकरण सूयति का ग्रहण होता और सूति का नहीं होता। इसलिये पृथक् २ दोनों का निर्देश किया गया है। इत्यादि इसके अनेक प्रयोजन हैं ॥ ७९ ॥

(हेरचङि) इस सूत्र में अभ्यास से परे 'हि' धातु के 'हकार' को 'कुत्व' कहा है, परन्तु वह कुत्व चङ् में न हो, सो चङ् णिजन्त से होता है। उस चङ् के परे हि की अङ्गसंज्ञा ही नहीं किन्तु णिच् के सहित और णिच् के परे हि की अङ्ग संज्ञा है। और अंगाधिकार में अङ्ग को कार्य का विधान वा निषेध होता है। इस चङ् के परे कुत्व प्राप्त ही नहीं, फिर निषेध क्यों किया? इसलिये यह परिभाषा है—

८०—प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि कुत्वं भवति॥ अ० ७।३।५६॥

कुत्व प्रकरण में जहां मूलप्रकृति का ग्रहण है, वहां णिच्सहित प्रकृति का भी ग्रहण हो जावे।

इस से चङ् के परे निषेध सार्थक होगया। और अन्यत्र फल यह है कि 'प्रजिघाययिषति' यहां णिजन्त 'हि' धातु को 'सन्' प्रत्यय के परे 'कुत्व' हो जाता है। इत्यादि प्रयोजन हैं॥ ८०॥

(ज्यादादीयसः) इस सूत्र में जो 'ज्य' से परे 'ईयसुन्' प्रत्यय को 'आकारादेश' न कहते, तो भी लोप की अनुवृत्ति आकर, पर के आदि ईकार का लोप होकर, अकृत् यकारादि प्रत्यय के परे ज्य को दीर्घ हो के 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध हो ही जावेगा। फिर आकारादेशविधान व्यर्थ होने से यह परिभाषा है—

८१—अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः॥ अ० ६। ४। १६०॥

अंगाधिकार में कोई कार्य निष्पन्न हो गया हो, तो फिर दूसरे कार्य में प्रवृत्ति न होवे।

इस से यह आया कि अंगाधिकार के एक 'ईयसुन्' लोप कार्य होने में फिर द्वितीय कार्य दीर्घ नहीं हो सकता। इसलिये पूर्वोक्त (ज्यादादीयसः) सूत्र में आकारादेश सार्थक हो गया।

तथा (रीङ् ऋतः) यहां जो दीर्घ रीङ् न कहते, तो भी 'मात्रीयति' आदि में अकृत् यकारादि प्रत्यय के परे दीर्घ हो जाता। फिर दीर्घ 'रीङ्' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि रिङ् किये पीछे दीर्घ नहीं हो सकता। इसलिये दीर्घ रीङ् पढ़ना चाहिये। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ८१॥

'परमात्मानं नमस्करोति नमस्यति वा' इत्यादि प्रयोगों में 'नमः' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति (नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च) इस सूत्र से होनी चाहिये। सो इस समाधान के लिये यह परिभाषा है—

८२—उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी॥ अ० २। ३। १६॥

उपपदविभक्ति से कारकविभक्ति बलवान् होती है।

'उपपदविभक्ति' वह कहाती है कि जहां कर्मादि कारक व्यवस्था से किसी निज विभक्ति का नियम न किया हो। और जहां कर्मादि कारक व्यवस्था से नियत विभक्ति होती है, उस को 'कारक विभक्ति' कहते हैं। सो 'परमात्मने नमः; गुरवे नमः' इत्यादि में तो उपपदविभक्ति चतुर्थी हो जाती। और 'परमात्मानं नमस्करोति' इत्यादि में उपपदविभक्ति को बाध के कारकविभक्ति हो जाती है।

तथा 'गाः स्वामी व्रजति' यहां 'स्वामी' शब्द के योग में उपपद विभक्ति षष्ठी सप्तमी (स्वामीश्वराधिपति०) इस सूत्र से प्राप्त है, परन्तु 'व्रजति' क्रिया में गौओं को कर्मत्व होने से द्वितीया विभक्ति हो जाती है, इत्यादि ॥ ८२ ॥

'मिमार्जिषति' यहां 'मृज्+सन्+तिप्' इस अवस्था में बह्वपेक्ष वृद्धि की अपेक्षा में अल्पापेक्ष अन्तरङ्ग होने से द्वित्व होकर, परत्व से अभ्यासकार्य होके, 'मिमृज्+सन्+तिप्' इस अवस्था में इकार ऋकार दोनों को वृद्धि प्राप्त है। सो जो अभ्यास को भी वृद्धि होजावे, तो ह्रस्व का अपवाद होने से फिर ह्रस्व नहीं हो सकता। तो 'मिमार्जिषति' आदि प्रयोग भी सिद्ध नहीं हो सकते। इसलिये यह परिभाषा है—

८३—अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति ॥ अ० ६ । १ । १३ ॥

जहां अनन्त्य और अन्त्य वर्ण के समीपस्थ दोनों वर्ण को जो कार्य प्राप्त हो, वहां अन्त्य के समीपस्थ वर्ण को कार्य होना चाहिये, और दूरस्थ व्यवहित पूर्ववर्ण को नहीं होवे।

इससे 'मिमार्जिषति' में अभ्यास को वृद्धि नहीं होती।

तथा 'अदोऽञ्चति; अदमुयङ्' यहां 'क्विप्' प्रत्ययान्त 'अञ्चु' धातु के परे 'अदस्' शब्द के टि भाग को 'अद्रि' आदेश होकर 'अदद्र्यङ्' इस अवस्था में (अदसोऽसेर्दादुदोमः) इस सूत्र से दोनों दकारों से परे उ और दकारों को मकार प्राप्त है। सो इस परिभाषा से अन्त्य को होता है, अनन्त्य पूर्व को नहीं। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८३ ॥

'देहि; धेहि' इत्यादि प्रयोगों में जो अभ्यास का लोप होता है, सो अलोन्त्यविधि मान के अन्त्य अल् का लोप होवे, तो 'देहि; धेहि' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकें। इसलिये यह परिभाषा है—

८४—नानर्थकेऽलोन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ अ० १ । १ । ६५ ॥

अनर्थक शब्द को कहा कार्य अन्त्य अल् को न हो, परन्तु अभ्यास विकार को छोड़ के।

धातु को जो द्वित्व किया जाता है, उसमें एक भाग अनर्थक और दोनों भाग सार्थक होते हैं, क्योंकि वहां शब्दाधिक्य होने से अर्थाधिक्य नहीं हो जाता। इससे अनर्थक अभ्यास का लोप अन्त्य अल् को न हुआ, तो 'देहि; धेहि' आदि प्रयोग सिद्ध हो गये।

तथा (अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ) इससे 'अत्' भाग को कहा पररूप इस परिभाषा के आश्रय से अन्त्य अल् को नहीं होता=घटत्+इति=घटिति; पटिति। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८४ ॥

जैसे 'ब्राह्मणश्च ब्राह्मणी च ब्राह्मणौ; वत्सश्च वत्सा च वत्सौ' यहां स्त्रीवाचक शब्द के साथ पुरुषवाची शब्द एकशेष रह जाता है, वैसे 'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणी-वत्सश्च' यहां भी एकशेष होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

८५–प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसम्प्रत्ययः ॥

जहां प्रधान और अप्रधान दोनों में कार्य प्राप्त हों, वहां प्रधान में कार्य होना निश्चित रहे, अप्रधान में नहीं।

'ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सश्च' यहां स्त्रीत्व और पुंस्त्व स्वार्थ में अप्रधान और स्वस्वामिसम्बन्ध में प्रधान हैं, इसलिये एकशेष नहीं होता, इत्यादि।

तथा लोक में भी और किसी ने किसी से पूछा कि यह कौन जाता है, उसने उत्तर दिया कि राजा। यद्यपि राजा के साथ सेनादि सब थे, तथापि प्रधान राजा का ग्रहण होता। और दो मनुष्यों का देवदत्त नाम हो, तो उन में जो प्रधान होता है उसी से व्यवहार किया जाता है ॥ ८५ ॥

'स्वस्रादिगण' में 'मातृ' शब्द पढ़ा है, उससे 'ङीप्' प्रत्यय का निषेध किया है, सो जननीवाचक है। और परिमाण अर्थात् तोलन करने वाली सामान्य स्त्री को भी 'मातृ' कहते हैं, सो दोनों का निषेध हो वा किसी एक का? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

८६–अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ॥

अवयव की प्रसिद्धि से समुदाय की प्रसिद्धि बलवान होती है।

अवयव की प्रवृत्ति थोड़े अंश में और समुदाय की प्रवृत्ति बहुत अंश में होती है। इस कारण जननीवाचक मातृ शब्द के रूढि होने से अवयव मानकर स्वस्रादिगण से ङीप् का निषेध होजाता है। और परिमाणकर्त्तृवाचक 'मातृ' शब्द के यौगिक होने से समुदायवाची मान कर स्वस्रादि गण से ङीप् का निषेध नहीं होता। अर्थात् परिमाण-वाचक 'मातृ' पुरुष हो तो 'माता, मातारौ, मातारः' और स्त्री हो तो 'मात्री, मात्र्यौ, मात्र्यः' ऐसे प्रयोग होंगे। इस परिभाषा के इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ८६ ॥

(अचि विभाषा) इस सूत्र में 'गॄ' धातु के रेफ को लकारादेश होता है। सो जहां कण्ठवाची गल शब्द है, वहां भी लत्व का विकल्प हो, तो गर शब्द भी कण्ठवाचक होजावे। सो नियम से विरुद्ध है। क्योंकि 'गर' शब्द केवल विष का वाची और 'गल' शब्द कण्ठवाची है। इन दोनों के अर्थ में लत्व के विकल्प से व्यभिचार होजाना चाहिये। इस के समाधान के लिये यह परिभाषा है—

८७–व्यवस्थितविभाषयाऽपि कार्याणि क्रियन्ते ॥

व्यवस्थित विभाषा से भी कार्य किये जाते हैं।

'व्यवस्थित विभाषा' उसको कहते हैं कि जिस कार्य का विकल्प किया हो, वही कार्य किसी नियतार्थवाचक शिष्टप्रयुक्त शब्द में नित्य हो जावे, और किसी में हो ही नहीं। और जहां सब प्रयोगों में उस कार्य का होना न होना दोनों भेद रहैं, तो उसको 'अव्यवस्थित विभाषा' कहते हैं।

इससे कण्ठवाची गल शब्द में नित्य लत्व हो जाता है। इसके उदाहरणों की कारिका महाभाष्य की यह है कि—

देवत्रातो गलो ग्राह इतियोगे च सद्विधिः।
मिथस्ते न विभाष्यन्ते गवाक्षः संशितव्रतः॥

'देवश्चासौ त्रातो देवत्रातः' यहां संज्ञावाचक 'त्रात' शब्द में (नुदविदोन्दत्रा०) इस सूत्र से निष्ठा के 'तकार' को 'नकार' नित्य ही नहीं होता, और क्रियावाचक में तो 'त्राणम्; त्रातम्' दोनों होते हैं।

'गल' शब्द का लिख दिया। सामान्य यौगिकवाची 'गरः; गलः' दोनों ही होते हैं।

(विभाषा ग्रहः) इस सूत्र में 'ग्रह' धातु से 'ण' प्रत्यय होकर 'ग्राहः' प्रयोग बनता है। सो यह जलजन्तु की संज्ञा है। इस में नित्य ण हो जाता है। और जहां नक्षत्र आदि लोकवाची में ग्रह शब्द अच् प्रत्ययान्त होगा, वहां ण नहीं होता।

तथा 'इति' शब्द के योग में सत्संज्ञक 'शतृ; शानच्' प्रत्यय विकल्प से प्राप्त भी हैं। जैसे—'हन्तीति पलायते; वर्षतीति धावति' यहां प्रथमासमानाधिकरण में व्यवस्थितविभाषा मानकर नित्य नहीं होते।

'गवाक्षः' यह झरोखा की संज्ञा है। यहां 'गो' शब्द को 'अवङ्' आदेश विकल्प से प्राप्त है, सो नित्य ही हो जाता है। और जहां 'गौ' के 'अक्ष' नेत्र का नाम होगा वहां 'गवाक्षम्; गोअक्षम्; गोऽक्षम्' ये तीन प्रयोग हो जावेंगे।

और 'संशितव्रतः' यहां (शाच्छोरन्यतरस्याम्) इस सूत्र से तादि कित् के परे 'शो' धातु को विकल्प से प्राप्त इकारादेश नित्य होता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ८७॥

(आशंसायां भूतवच्च) इस सूत्र में प्रिय पदार्थ की इच्छा-संबन्धी भविष्यत् काल में भूतवत् और वर्त्तमानवत् प्रत्यय कहे हैं। अर्थात् भूतकालिक जिस अर्थ में प्रकृति से जो प्रत्यय कहा है, वह प्रत्यय उसी अर्थ में उसी प्रकृति से होना चाहिये।

सो सामान्यभूत में निष्ठा और लुङ् आदि होते हैं, और अनद्यतनभूत में लङ् तथा परोक्षानद्यतनभूत में लिट् होता है। इस में यह सन्देह है कि भूतवत् कहने से सामान्यभूतकालिक प्रत्ययों का अतिदेश होवे वा सामान्य विशेष दोनों का? इसलिये यह परिभाषा है—

८८–सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः ॥

जहां सामान्य और विशेष दोनों का अतिदेश प्राप्त हो, वहां विशेष का अतिदेश नहीं होता।

इससे सामान्यभूत के अतिदेश में विशेषभूत में विहित लङ् लिट् का अतिदेश नहीं होता, इत्यादि ॥ ८८ ॥

(सनाशंसभिक्ष उः) इस सूत्र में 'सन्' धातु वा 'सन्' प्रत्यय का ग्रहण होना चाहिये? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

८९–प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्ययस्यैव ग्रहणम् ॥ अ० ६ । ४ । १ ॥

जहां प्रत्यय और अप्रत्यय दोनों का एकस्वरूप होने से ग्रहण हो सकता हो, वहां प्रत्यय ही का ग्रहण हो, अप्रत्यय का नहीं।

इसलिये 'सन्' धातु का ग्रहण नहीं होता, किन्तु सन् प्रत्ययान्त से उ प्रत्यय होता है।

तथा 'चिचीषति; तुष्टूषति' यहां सन् के परे अजन्त को दीर्घ होता है। सो 'दधि सनोति; मधु सनोति' यहां सन् धातु के परे दीर्घ नहीं होवे। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ८९ ॥

(विपराभ्यां जेः) इस सूत्र में वि परा पूर्वक 'जि' धातु से आत्मनेपद कहा है। सो 'परा जयति सेना' यहां सेना शब्द के विशेषण परा शब्द से परे भी आत्मनेपद होना चाहिये? इस संदेह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

९०–सहचारितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ॥

सहचारी और असहचारी दोनों का जहां ग्रहण हो सकता हो, वहां सहचारी का ही ग्रहण हो, और असहचारी का नहीं।

'विजयते; पराजयते' यहां आत्मनेपद हो गया। और 'बहुविजयति वनम्; परा जयति सेना' यहां न हुआ। क्योंकि जहां वि, परा, केवल उपसर्ग हैं, वहां हो। यहां बहुवि वन का और परा सेना का विशेषण, अर्थात् दोनों अनुपसर्ग हैं, वहां आत्मनेपद नहीं होता। 'वन' और 'सेना' के विशेषण में 'वि' और 'परा' शब्द उपसर्ग के सहचारी नहीं हैं, इस कारण वहां आत्मनेपद नहीं हुआ।

तथा (पंचम्यपाङ्परिभिः) यहां कर्मप्रवचनीय अप् आङ् और परि के योग में पंचमी विभक्ति होती है। सो वर्जनार्थ अप् शब्द के साहचर्य से 'वृत्तं परि विद्योतते विद्युत्' यहां लक्षण अर्थ में पंचमी विभक्ति नहीं होती। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ६० ॥

जैसे 'अहो आश्चर्यम्; उताहो इमे' इत्यादि में ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होजाता है, वैसे 'अतिरस्तिरः समपद्यत=तिरोऽभवत्' यहां च्विप्रत्ययान्त लाक्षणिक ओकारान्त की निपातसंज्ञा होकर प्रगृह्यसंज्ञा होजावे, तो प्रकृतिभाव होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

९१—लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥ अ० १।१।१५॥

लक्षण नाम जो सूत्र से कार्य होकर बना हो वह 'लाक्षणिक,' और जो स्वाभाविक है, वह 'प्रतिपदोक्त' कहाता है। उन लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त के बीच में जहां संदेह पड़े, वहां प्रतिपदोक्त को कार्य हो, और लाक्षणिक को नहीं।

इससे 'तिरोऽभवत्' यहां लाक्षणिक ओकारान्त निपात की प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव नहीं होता।

तथा 'आशिषा तरति=आशिषिकः' यहां इस भाग के लाक्षणिक होने से (इसुसुक्तान्तात्कः) सूत्र से 'ठक्' प्रत्यय को ककारादेश नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ९१ ॥

इस परिभाषा के होने में ये दोष हैं कि—जो (दाधाघ्वदाप्) सूत्र से दा धा की घु संज्ञा होती है, सो 'देङ् रक्षणे; दो अवखण्डने; धेट् पाने' आदि की घु संज्ञा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि 'डुदाञ्; डुधाञ्' प्रतिपदोक्त और देङ् आदि लाक्षणिक हैं। इस संदेह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

९२—गामादाग्रहणेष्वविशेषः ॥ अ० १।१।२० ॥

गा, मा, दा ये तीनों जिन सूत्रों में ग्रहण किये हों, वहां सामान्य करके लाक्षणिक और प्रतिपदोक्त दोनों का ग्रहण होता है।

इस से 'देङ्' आदि लाक्षणिक धातुओं की भी घु संज्ञा होजाती है।

'दैप्' धातु में पित् पढ़ने का यही प्रयोजन है कि जो दाप् की घु संज्ञा का निषेध है, सो दै मात्र के पढ़ने से प्राप्त नहीं था, इसलिये पित् किया। सो जो लाक्षणिक दै मात्र की घु संज्ञा प्राप्त ही नहीं थी, तो निषेध के लिये पित् क्यों पढ़ा? इस से यह आया कि लाक्षणिक की भी घु संज्ञा होती है।

(घुमास्थागापाजहातिसां हलि) यहां 'मा' करके 'मेङ्' आदि को भी ईकारादेश होता है=मीयते; मेमीयते इत्यादि। गा करके गै आदि भी लिये जाते हैं=गीयते; जेगीयते। 'इङ्' धातु के स्थान में जो 'गाङ्' आदेश होता है, उस का भी ग्रहण होता है, जैसे 'अध्यगीष्ट; अध्यगीषाताम्' इत्यादि बहुत प्रयोजन हैं ॥ ९२ ॥

(वृद्धिरादैच्) सूत्र में आ, ऐ, औ इन तीनों की वृद्धिसंज्ञा होती है। इस में यह संदेह होता है कि जो तीनों वर्ण की एक साथ वृद्धिसंज्ञा होजावे तो 'कारकः' आदि में एक साथ तीनों वर्ण वृद्धि होने चाहियें। इसलिये यह परिभाषा है—

९३—प्रत्यवयवं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ अ० १ । १ । १ ॥

वाक्य की समाप्ति प्रत्येक अवयव के साथ होती है। अर्थात् जहां समुदाय को कार्य कहा है, वहां वाक्यस्थ क्रिया जब प्रत्येक अवयव के साथ सम्बन्ध कर लेती है, तब उस को पूर्ण वाक्य कहते हैं।

जैसे किसी ने कहा कि 'देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्ताम्,' यद्यपि यहां यह नहीं कहा कि देवदत्त, यज्ञदत्त और विष्णुमित्र को पृथक् २ भोजन कराओ, तथापि भोजन क्रिया प्रत्येक के साथ सम्बन्ध रखती है। इसी प्रकार यहां आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा पृथक् कही है, इसी से प्रत्येक वर्ण के साथ वृद्धि का सम्बन्ध पृथक् २ रहता है। ऐसे ही गुण आदि संज्ञा भी प्रत्येक की होती है ॥ ९३ ॥

अब इस पूर्वोक्त परिभाषा से यह दोष आया कि जो (हलोऽनन्तराः संयोगः) यहां प्रत्येक वर्ण की संयोगसंज्ञा रहे तो 'निर्यायात्; निर्वायात्' यहां 'या; वा' धातु को संयोगादि मान कर (वान्यस्य संयोगादेः) इस सूत्र से एकारादेश होना चाहिये। इत्यादि अनेक दोष आवेंगे। इसलिये यह परिभाषा है—

९४—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ अ० १ । १ । ७ ॥

कहीं ऐसा भी होता है कि समुदाय में वाक्य की परिसमाप्ति होवे। अर्थात् वाक्यस्थ क्रिया का केवल समुदाय के साथ सम्बन्ध रहे। और प्रत्येक अवयव के साथ पृथक् २ सम्बन्ध न होवे।

जैसे राजा ने आज्ञा की कि 'गर्गाः शतन्दण्ड्यन्ताम्,' यहां गर्गों पर सौ रुपये दण्ड कहा, तो उन में प्रत्येक पर सौ २ दण्ड किया जावे वा समुदाय पर ? तो जैसे समुदाय पर एक दण्ड होता है, वैसे ही समुदित हलों की संयोगसंज्ञा होती है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ९४ ॥

(वृद्धिरादैच्) सूत्र में आ, ऐ, औ इन तीन दीर्घ वर्णों की वृद्धिसंज्ञा की है, फिर आकार तपर क्यों पढ़ा, क्योंकि सवर्णग्रहणपरिभाषा से अक्षरसमाम्नाय का ही अण् सवर्णग्राहक है। परन्तु जो अक्षरसमाम्नाय में ह्रस्व पढ़ते हैं, उन्हीं का ग्रहण होगा, दीर्घों का नहीं। फिर दीर्घ से सवर्णग्रहण की प्राप्ति ही नहीं। और तपरकरण का यही प्रयोजन होता है कि तपर से भिन्नकालिक सवर्णों का ग्रहण न हो। इस के समाधान के लिये यह परिभाषा है—

९५—भेदका उदात्तादयः ॥ अ० १ । १ । १ ॥

जिस वर्ण के साथ जो उदात्तादि गुण लगता है, वह उसको स्वभाव से भिन्न कर देता है, परन्तु कालभेद नहीं होता।

दीर्घ उदात्त, दीर्घ अनुदात्त, दीर्घ स्वरित इन में काल का तो भेद नहीं परन्तु उच्चत्व, नीचत्व, समत्व आदि का भेद है। सो जो आकार को तपर न पढ़ते तो भी अभेदकों का ग्रहण होही जाता। फिर तपर से यही प्रयोजन है कि भिन्नधर्मवाले तात्कालिक उदात्तादि का भी ग्रहण होजावे। इसलिये आकार में तपरकरण सार्थक हुआ। तथा अन्यत्र भी दीर्घ वर्णों को तपर पढ़ने का यही प्रयोजन है।

और लोक में भी उदात्तादि का भेद दीख पड़ता है। जैसे कोई विद्यार्थी उदात्त के स्थान में अनुदात्त बोले तो अध्यापक उसको शासन करता है कि तू अन्यथा क्यों बोलता है। सो जो उदात्तादि में भेद नहीं होता, तो शासन भी नहीं बन सकता। और यह भी दृष्टान्त है कि एकजल शीत, उष्ण और खारी आदि भेदक गुणों के होने से भिन्न २ हो जाता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ ९५॥

इस पूर्वोक्त विषय में ऐसे भी दृष्टान्त मिलते हैं कि एक देवदत्त बालक, युवा, वृद्ध आदि अवस्था गुणों और मुण्ड, जटिल आदि गुणों से वही बना रहता है, कोई भिन्न नहीं होजाता। इस से यह भी आया कि गुण अभेदक हैं। और (यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च) इस सूत्र में 'यासुट्' को उदात्त न कहते किन्तु उस को उदात्त ही पढ़ देते तो उदात्तादि गुणों के भिन्न २ होने से उदात्त के पढ़ने में अनुदात्त हो ही नहीं सकता। फिर उदात्त ग्रहण व्यर्थ हुआ। इसलिये यह परिभाषा है—

९६—अभेदका गुणाः॥ अ० १। १। १॥

उदात्तादि गुण अभेदक होते हैं। अर्थात् गुणी के स्वरूप को कुछ भी नहीं बदल सकते।

इसीलिये (अस्थिदधि०) इत्यादि सूत्रों में उदात्त वा अनुदात्त पढ़ा है। जो उदात्तादि शब्दों से उदात्त नहीं पढ़ते, तो अभेदक होने से विशेष गुणी का ज्ञान नहीं होता। इस से उदात्तादि शब्दों का पढ़ना सार्थक हो गया।

इन गुणों के अभेदक पक्ष में दीर्घों को तपर पढ़ने का द्वितीय समाधान है। (आदैच्) यहां तो आकार के तपर पढ़ने का यही प्रयोजन है कि तकार से परे ऐ औ तपर माने जावें, तो 'महा ओजाः=महौजाः' यहां चार मात्रिक स्थानी के स्थान में चार मात्राओं का आदेश भी प्राप्त होता है, सो न हो, किन्तु द्विमात्रिक ही 'ए, ऐ, ओ, औ' आदेश होवें। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं। इन दोनों में गुणों का अभेदकपक्ष ही बलवान् है॥ ९६॥

(सर्वादीनि सर्वनामानि) इस सूत्र में सर्वनामशब्द में णत्वनिषेध निपातन किया है। सो उस को सूत्र में चरितार्थ हो जाने से लौकिक प्रयोगविषय में सर्वनाम शब्द को णत्व होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

९७—बाधकान्येव हि निपातनानि॥ अ० १। १। २७॥

जिस अप्राप्त कार्य का विधान वा प्राप्त का निषेध निपातन से कर दिया हो, वह सर्वथा बाधक हो जाता है, फिर वह वैसा ही प्रयोगकाल में भी रहेगा।

इस से 'सर्वनाम' आदि शब्दों में णत्वनिषेध आदि कार्य सिद्ध हो जाते हैं ॥ ९७ ॥

'स्यन्त्स्यति' इस 'स्यन्दू' धातु के प्रयोग में 'इट' का विकल्प अन्तरङ्ग और निषेध बहिरङ्ग है । सो जो अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग असिद्ध माना जावे, तो परस्मैपद में भी इट् का विकल्प होना चाहिये ? इस सन्देह की निवृत्ति के लिये यह परिभाषा है—

९८–प्रतिषेधाश्च बलीयांसो भवन्ति ॥ अ० १ । १ । ६३ ॥

पर, नित्य और अन्तरङ्ग से भी प्रतिषेध बलवान् होते हैं ।

इस से अन्तरङ्ग भी इट्विकल्प को बाध के नित्य प्राप्त इट् का निषेध हो जाता है । इत्यादि प्रयोजन हैं ॥ ९८ ॥

(अइउण्) आदि प्रत्याहार सूत्रों में जो 'ण्; क्' आदि अनुबन्ध पढ़े हैं, उनका अच् के ग्रहण से ग्रहण किया जावे, तो 'दधि णकारीयति; ऋीकरोति' इत्यादि में णकार ककार के परे इकार ईकार को यणादेश होना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

९९–सर्वविधिभ्यो लोपविधिर्बलीयान् ॥

सब विधियों से लोपविधि बलवान् होती है ।

इससे 'ण्; क्' आदि अनुबन्धों का प्रत्याहार की प्रवृत्ति से पहिले ही लोप हो जाता है । फिर 'अच्' में णकार ककार के न रहने से 'दधि णकारीयति; ऋीकरोति' आदि में यणादेश नहीं होता, इत्यादि ।

और लोक में भी यही रीति है कि किसी का मृत्यु आ जावे तो सब कामों का बाधक हो जाता है । अर्थात् अदर्शन अग्रहण होता है ॥ ९९ ॥

'अर्थं प्रत्याययति स प्रत्ययः' जो अर्थ का निश्चय करावे वह 'प्रत्यय' कहाता है । इस अर्थ के न होने से केवल स्वार्थ में विहितों की प्रत्ययसंज्ञा नहीं होवे । इसलिये यह परिभाषा है—

१००–अनिर्दिष्टार्थाश्च प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ॥ अ० ३ । २ । ४ ॥

जिन प्रत्ययों की उत्पत्ति में कोई विशेष अर्थ नियत न किया हो, वे स्वार्थ में हों, अर्थात् प्रकृत्यर्थ के सहायक और बोधक रहें । इसी से वे प्रत्यय कहावें ।

जैसे (गुप्तिज्किद्भ्यः सन्; यावादिभ्यः कन्) इत्यादि प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं=जुगुप्सते, यावकः इत्यादि ॥ १०० ॥

(सुपि स्थः) इस सूत्र से कर्त्ता में प्रत्यय होते हैं । इसलिये 'आखूनामुत्थानमाखूत्थः' इत्यादि प्रयोगों में भाव में 'क' प्रत्यय नहीं हो सकता । इसलिये यह परिभाषा है—

१०१–योगविभागादिष्टसिद्धिः ॥

जहां इष्टकार्य की सिद्धि न हो, वहां योगविभाग करना चाहिये । और योगविभाग करके इष्टकार्य साधलेना, अनिष्ट नहीं होने देना ।

(सुपि) इतना पृथक् सूत्र किया, तो यह अर्थ हुआ कि सुबन्त उपपद हो तो आकारान्त धातु से क प्रत्यय हो। इस से 'कच्छेन पिबति कच्छपः; कटाहपः; द्वाभ्यां पिबति द्विपः' इत्यादि प्रयोग सिद्ध हुये। पीछे (स्थः) इतना पृथक् किया तो यह अर्थ हुआ कि स्था धातु से सुबन्त उपपद हो तो क प्रत्यय हो। यहां योगविभाग करके कर्त्ता से हटाया तो स्वार्थ भाव में 'आखूत्थः' आदि प्रयोग सिद्ध होगये। इसी प्रकार सर्वत्र जानो ॥ १०१ ॥

लाघव गौरव का विचार सर्वत्र रहता है कि जहां तक हो थोड़ा वचन पढ़के बहुत अर्थ निकालना, परन्तु—

१०२–पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते ॥

पर्याय शब्दों में थोड़े बहुत होने का विचार नहीं करते, कि जहां थोड़े वचन से काम चल सकता है, तो उस का पर्याय अधिक अक्षर का शब्द न पढ़ना।

जैसे 'अन्यतरस्याम्; विभाषा; वा; उभयथा' इत्यादि एकार्थ शब्दों में किसी को पढ़ दिया, यह नियम नहीं कि इतना अधिक क्यों पढ़ा, इत्यादि ॥ १०२ ॥

जो ज्ञापकरूप परिभाषाओं से कार्य सिद्ध होते हैं, वहां सर्वत्र ज्ञापकसिद्ध की प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिये यह परिभाषा है—

१०३–ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ॥

जैसे अर्थवान् और अनर्थक के ग्रहण में ज्ञापकसिद्ध परिभाषा से अर्थवान् को कार्य होता है, सो अन्नन्त को कहा कार्य 'कनिन्' प्रत्यय के परे सार्थक 'अन्' को और मन् प्रत्यय के निरर्थक 'अन्' को भी होते हैं ॥ १०३ ॥

त्रिपादी में हुआ कार्य सपादसप्ताऽध्यायी में असिद्ध माना जाता है। सो 'द्रोग्धा द्रोग्धा; द्रोढा द्रोढा' यहां त्रिपादिस्थ (वा द्रुहमुह०) सूत्र से हकार को घ और ढ आदेश होते हैं। सो जो द्वित्व करने में उस घ को असिद्ध मानें, तो द्वित्व के एकभाग में घ और द्वितीय भाग में ढ आदेश रहना चाहिये। इसलिये यह परिभाषा है—

१०४–पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने ॥ अ० ८ । १ । १ ॥

त्रिपादी का कार्य द्वित्व करने में असिद्ध न माना जावे।

इससे 'द्रोग्धा द्रोग्धा' आदि में ढत्व नहीं होता। तथा 'नुन्नं नुन्नम्; नुत्तं नुत्तम्' यहां भी द्वित्व के एक भाग में न और एक में तकार प्राप्त है, सो न हो, इत्यादि ॥ १०४ ॥

जैसे 'गोषु स्वाम्यश्वेषु च' यहां एक स्वामी शब्द के योग में दोनों भिन्नाकृति शब्दों में एकाकृति सप्तमी विभक्ति होती है, वैसे गो शब्द में सप्तमी और अश्व में षष्ठी विभक्ति क्यों नहीं होती? इसलिये यह परिभाषा है—

१०५–एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च न भवति ॥ अ० १ । ३ । ३९ ॥

जहां एक आकृति का प्रयोग चरितार्थ होता है, वहां द्वितीय वा तृतीय अन्यार्थ सम्भव कारक का प्रयोग नहीं होता।

इससे वहां 'अक्ष' शब्द में षष्ठी नहीं हो सकती। क्योंकि एकाकृति सप्तमी विभक्ति का चरितार्थ है। और षष्ठी के होने से भिन्नार्थ भी सम्भव हो जावे॥ १०५॥

'विव्याध' इत्यादि प्रयोगों में परत्व से (हलादिः शेषः) इस सूत्र से अभ्यास के यकार का लोप होजावे, तो वकार को संप्रसारण प्राप्त होता है। इसलिये यह परिभाषा है—

१०६–संप्रसारणं संप्रसारणाश्रयं च कार्यं बलीयो भवति॥

अ० १। १। १७॥

जो संप्रसारण और संप्रसारण के आश्रय कार्य हैं, वे दोनों बलवान् होते हैं।

इस से (हलादिः शेषः) सूत्र से प्राप्त परलोप को भी बाध के प्रथम यकार को संप्रसारण हो गया, तो फिर 'विव्याध' आदि प्रयोग बन गये।

तथा 'जुहुवतुः; जुहुवुः' यहां संप्रसारण और ह्वा धातु के आकार का अजादि आर्द्धधातुक के परे लोप भी प्राप्त है, परत्व से लोप होना चाहिये। बलवान् होने से संप्रसारण हो जाता है। और संप्रसारण हुए पीछे भी आकारलोप तथा संप्रसारणाश्रय पूर्वरूप भी प्राप्त है। परत्व से आकारलोप होना चाहिये। बलवान् होने से संप्रसारणाश्रय पूर्वरूप हो जाता है। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ १०६॥

जब शुक्ल नील आदि गुणवाचक शब्द अपने केवल गुणवाचकपन अर्थात् स्वतंत्र अर्थ में पुल्लिङ्गादि किसी विशेष लिङ्ग वा एकत्वादि वचन का आश्रय करने से नहीं प्रतीत होते, पुनः जब इन का द्रव्य के साथ समानाधिकरण हो, तब कौन लिङ्ग वचन इन में होना चाहिये? इसलिये यह परिभाषा है—

१०७–गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति॥

अ० १। २। ६४॥

गुणवाची शब्द जिस द्रव्य के आश्रित हों, उस द्रव्यवाचक शब्द के जो लिङ्ग वचन हों, वे ही गुणवाचक शब्द के भी हो जावें।

जैसे—'शुक्लं वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्लः कम्बलः; शुक्लौ कंबलौ, शुक्लाः कम्बलाः' इत्यादि। इसी प्रकार सर्वत्र जानो॥ १०७॥

जैसे 'कष्टं श्रितः=कष्टश्रितः' इत्यादि में समास हो जाता है, वैसे 'महत् कष्टं श्रितः' यहां भी समास होना चाहिये, इसलिये यह परिभाषा है—

१०८–सापेक्षमसमर्थं भवति॥ अ० २। १। १॥

जो पद विशेष्यविशेषणभाव से द्वितीय पद के साथ सम्बन्ध रखता हो, वह सापेक्ष होने से समास होने में असमर्थ कहाता है, उस का समास नहीं हो सकता।

इस कारण महत् शब्द विशेषण के साथ कष्टसापेक्ष होने से पर के साथ समास को प्राप्त नहीं होता।

तथा 'भार्या राज्ञः पुरुषो देवदत्तस्य' यहां भार्या के साथ राजन् शब्द सापेक्ष विशेषण, और देवदत्त! विशेषण के साथ पुरुष सापेक्ष है। इसलिये राजन् और पुरुष दोनों के परस्पर असमर्थ होने से समास नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ १०८॥

'परीयात्; अतीयात्' यहां परि + इयात् दो इकार को दीर्घ एकादेश हुआ है। सो जो अन्तादिवत् मानें, तो (एतेर्लिङि) सूत्र से उपसर्गों से परे इण् धातु को ह्रस्व प्राप्त है। इसलिये यह परिभाषा है—

१०९—उभयत आश्रयेनान्तादिवत्॥ अ० ६। १। ८५॥

पूर्व पर के स्थान में जो एकादेश हुआ हो, वह पूर्व पर दोनों के आश्रयकार्य की प्राप्ति में अन्तादिवत् न हो।

इस से 'परीयात्; अतीयात्' आदि में ह्रस्व नहीं होता। इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं॥ १०९॥

जो टित्, कित्, मित् आगम होते हैं, उन में किसी टकारादि अनुबन्ध से कोई उदात्तादि विशेष स्वर का विधान नहीं किया है। वहां क्या स्वर होना चाहिये? इसलिये यह परिभाषा है—

११०—आगमा अनुदात्ता भवन्ति॥ अ० ३। १। ३॥

टित् आदि आगम अनुदात्त होते हैं।

यद्यपि यह बात है कि अर्थवत् आगम इस परिभाषा के अनुकूल जो प्रत्यय वा प्रकृति का स्वर है, वही आगम का भी हो, तो एक पद में दो स्वर नहीं रहते। इसलिये 'भविता' इत्यादि में आगम भी अनुदात्त विधान किये हैं।

इसमें ज्ञापक यह है कि (यासुट् परस्मैपदेषूदा०) इस सूत्र में उदात्तादि करने का यही प्रयोजन है कि आगम सब अनुदात्त होते हैं। इस से उदात्त प्राप्त नहीं था। और जो प्रत्यय को आद्युदात्त स्वर होता है, वह आगम को नहीं प्राप्त था। इसलिये उदात्त कहा, इत्यादि॥ ११०॥

गुप्, तिज्, कित्, मान आदि धातुओं से स्वार्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। उस सन् के नित्य होने से प्रथम गण में शुद्ध प्रयोग नहीं होता। तो यह सन्देह होता है कि इन से आत्मनेपद हो वा परस्मैपद हो? जो सन्नन्त से पहिले कोई पद विधान होता हो वह (पूर्ववत्सनः) इस सूत्र से सन्नन्त से भी हो जाता, सो तो नहीं होता। और सन्नन्तों में कोई विशेष अनुबन्ध भी नहीं है, इसलिये यह परिभाषा है—

१११—अवयवे कृतं लिङ्गं तस्य समुदायस्य विशेषकं भवति यं समुदायं सोऽवयवो न व्यभिचरति॥ अ० ३। १। ५॥

अवयव में किया हुआ चिह्न उस समुदाय का विशेषक होता है कि जिस को वह अवयव फिर न छोड़ देवे ।

इस से यह आया कि जिन गुप् आदि धातुओं में जो अनुदात्तेत् चिह्न किया है, उनका सन् के विना कहीं पृथक् प्रयोग भी नहीं होता । इसलिये 'गुप्' आदि धातुओं का अनुदात्तेत् सन्नन्त का विशेषक हो के, अर्थात् गुप् आदि सन्नन्तों को भी अनुदात्तेत् मानकर आत्मनेपद हो=जुगुप्सते; मीमांसते यहां आत्मनेपद हो गया । और 'जुगुप्सयति वा जुगुप्सयते; मीमांसयति वा मीमांसयते' यहां णिजन्त समुदाय को णिच् छोड़ देता है, इसलिये परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों होते हैं ।

तथा 'पण' धातु अनुदात्तेत् है । उस के 'पणायति' प्रयोग में 'आय' प्रत्ययान्त से परस्मैपद ही होता है । क्योंकि आत्मनेपद तो व्यवहार अर्थ में और एकपक्ष में आर्द्धधातुक विषय में चरितार्थ है, शतस्य पणते, पणायांचकार, पेणे, पेणाते । और आय प्रत्ययान्त समुदाय को पण छोड़ भी देता है । इसलिये आय प्रत्ययान्त से आत्मनेपद नहीं होता ।

और लोक में भी बैल को किसी अवयव में दाग देते हैं, तो वह चिह्न उस बैल का विशेषक हो जाता है कि यह अङ्कित बैल है । उसी अवयव का और सब साथ के बैलों का भी विशेषक नहीं होता ॥ १११ ॥

(अपृक्त एकाल्प्रत्ययः) इस सूत्र में एकग्रहण का यही प्रयोजन है कि 'दर्विः, जागृविः' यहां वि प्रत्यय की अपृक्तसंज्ञा नहीं । सो जो एकग्रहण न करते और अल् प्रत्यय कहते, तो भी अनेकाल् में नहीं होती । फिर एकग्रहण व्यर्थ हुआ । इस से यह ज्ञापकसिद्ध परिभाषा निकली—

११२—वर्णग्रहणे जातिग्रहणम् ॥ अ० १ । २ । ४१ ॥

वर्ण के ग्रहण में वर्णजाति का ग्रहण होता है ।

इससे एकग्रहण तो सार्थक होगया । क्योंकि अल्मात्र पढ़ते तो जातिग्रहण होने से अनेक अलों का ग्रहण होजाता, फिर एकग्रहण से नहीं हुआ ।

और 'धीप्सति; धिप्सति' यहां दम्भ धातु के दो हलों में भी हल्जाति मानकर (हलन्ताच्च) सूत्र से इक् समीप हल् मान के सन् प्रत्यय कित् होजाता है । इत्यादि अनेक प्रयोजन हैं ॥ ११२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्याणां श्रीयुतविरजानन्दसरस्वतीस्वामिनां शिष्येण श्रीमद्दयानन्दसरस्वतीस्वामिना विरचिते वेदाङ्गप्रकाशे दशमोऽष्टाध्याय्यां नवमश्च पारिभाषिको ग्रन्थोऽलङ्कृतिमगात् ॥

—:(०):—